द्रव्य

साख तथा विदेशी विनिमय

लेखक

श्रीधर मिश्र, एम० ए०

अर्थशास्त्र अध्यापक, विश्वविद्यालय, लखनऊ।

रामेश्वर मिश्र, एम० काम०

वाणिज्य विभाग, कान्यकुब्ज कालेज, लखनऊ।

प्रस्तावना लेखक

डॉ० राधाकमल मुखोपाध्याय, एम० ए०, पी-एच० डी०,

लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ।

प्रकाशक

मालवीय पुस्तक भवन

अमीनाबाद, लखनऊ।

मूल्य ४)

प्रस्तावना

इस पुस्तक की प्रस्तावना लिखने में मुझे बड़ी प्रसन्नता है। इसमें द्रव्य तथा द्रव्य सम्बन्धी विशेषतः भारतीय, समस्याओं का बड़े ही उत्तम, स्पष्ट तथा प्रभावोत्पादक ढंग से वर्णन किया गया है। विषय का विवेचन बहुत ही सुन्दर तथा सुचारु रूप से हुआ है और द्रव्य स्फीति से उत्पन्न वर्तमान कठिनाइयों का विश्लेषण वास्तविक ढंग से किया गया है। स्टर्लिंग निधि और उसके उपयोग के सम्बन्ध में लेखकों के विचार उपयोगी हैं और स्फीति की प्रगति रोकने के लिए दिये गये उनके प्रस्ताव भी विचारणीय हैं।

इस प्रकार की पुस्तक जिसमें द्रव्य संकट और तत्सम्बन्धी आर्थिक संकटों का वर्णन है जनसाधारण द्वारा अच्छी तरह पढ़ी तथा समझी जानी चाहिए जिससे सरकार की वर्तमान कठिनाइयों तथा जनसाधारण के उत्तरदायित्व को ठीक ठीक समझा जा सके। वर्तमान आर्थिक स्थिति ऐसी है कि द्रव्य तथा बैंक सम्बन्धी समस्याओं का सर्वसाधारण द्वारा समझा जाना उचित है जिससे वास्तविक जनतंत्र चल सके और साधारण व्यक्ति उचित आर्थिक स्तर तक उठ सके। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए इस पुस्तक में रोचक तथा उपयोगी सामग्री है।

इतना महत्वपूर्ण विषय होते भी इस सम्बन्ध में लोगों का ज्ञान बहुत सीमित है। मुझे आशा है कि इस ज्ञान के प्रचार में यह पुस्तक सफल सिद्ध होगी।

राधाकमल मुखोपाध्याय

विश्वविद्यालय,
लखनऊ।

दो शब्द

उच्च कक्षाओं में शिक्षा का माध्यम हिन्दी हो जाने से पठन पाठन का कार्य अत्यन्त सरल हो गया है। किन्तु हिन्दी भाषा में सभी पाठ्य विषयों पर पर्याप्त साहित्य उपलब्ध न होने से ऐसा विदित होता है कि अध्यापकों और विद्यार्थियों के सामने अल्पकाल के लिए कुछ अड़चन सी आ गयी है। यह स्वाभाविक भी है। वास्तव में यह कठिनाई बहुत काल से हिन्दी का उचित प्रयोग न होने के कारण उत्पन्न हुई है। इस असुविधा को दूर करने के लिए कुछ लोगों ने अंग्रेजी में लिखित पुस्तकों को हिन्दी में अनुवाद करना प्रारम्भ कर दिया है। अर्थशास्त्र और वाणिज्य विषयों पर भी ऐसे प्रकाशन होना सम्भव है। भाषा के सृजन की दृष्टि से और तात्कालीन समस्या को हल करने के उद्देश्य से इस प्रकार का प्रयास करना सर्वथा वांछनीय है। परन्तु यह पूर्णतः स्पष्ट है कि अनुवाद में किसी भी विषय का उतना स्वाभाविक और सरल विवेचन नहीं हो पाता जितना मूल रूप से लिखने पर होता है। इसीलिए इस पुस्तक को मौलिक रूप से लिखकर पाठकों के सम्मुख प्रस्तुत करने की चेष्टा की गई है। यथा सम्भव अत्यन्त सरल और साधारणतः प्रचलित शब्दों के द्वारा विषय को समझाने का

प्रयत्न किया गया है लेकिन फिर भी ऐसे शब्दों को स्थान न
दिया गया जो अनुपयुक्त और असाहित्यिक हों। संक्षेप
सरल भाषा द्वारा द्रव्य, साख और विनिमय के मूल सिद्धा
का ज्ञान करा देना ही इस पुस्तक के लिखने का मुख्य उद्देश
है। अपने देश में इन सिद्धान्तों का किस प्रकार प्रयोग हुआ
इसका भी वर्णन किया गया है।

पुस्तक लिखने में यद्यपि विद्यार्थियों का पाठ्य क
ध्यान में रक्खा गया है फिर भी भाषा क्लिष्ट न होने
और विवेचन सामयिक समस्याओं से सम्बन्धित होने के कार
हमारा विश्वास है कि पुस्तक उन शिक्षित सर्वसाधारण के लि
भी उपयोगी सिद्ध होगी जिन्हें इस विषय के ज्ञान की चाह है

अंत में सुविख्यात श्रीयुत डाक्टर राधाकमल
मुखोपाध्याय के प्रति हम अपनी असीम कृतज्ञता प्रग
करते हैं जिन्होंने अन्य और अधिक आवश्यक कार्यों
सलग्न होते हुए भी अपना बहु-मूल्य समय देकर इस पुस्त
की प्रस्तावना लिखने का कष्ट उठाया है।

लेखक

विषय सूची

परिच्छेद एक

परिच्छेद दो

परिच्छेद तीन

परिच्छेद चार

परिच्छेद पाँच

परिच्छेद छह

परिच्छेद सात

परिच्छेद आठ

परिच्छेद ..

परिच्छेद दस

परिच्छेद ग्यारह

परिच्छेद बारह

परिच्छेद तेरह

परिच्छेद चौदह

परिच्छेद पन्द्रह

परिच्छेद सोलह

परिच्छेद सत्रह

परिच्छेद अठारह

परिशिष्ट—अ

परिशिष्ट—इ

परिशिष्ट—उ

द्रव्योत्पत्ति

विषय प्रवेश

विनिमय—आवश्यकता, लाभ और भेद

वस्तु विनिमय की असुविधायें :

आवश्यकताओं का पारस्परिक संयोग,

विनिमय का अनुपात,

वस्तु विभाजन

द्रव्य का प्रयोग और असुविधाओं का अन्त

परिच्छेद एक



द्रव्योत्पत्ति

विषय प्रवेश

प्रत्येक मनुष्य जन्मकाल से ही अनेक वस्तुओं का प्रयोग करने लगता है। धीरे-धीरे अवस्था के साथ उपयोग में आने वाली इन वस्तुओं की मात्रा और संख्या इतनी अधिक होती जाती है और हम उनके प्रयोग में इतने लिप्त हो जाते हैं कि हमें उनके विषय में कभी सोचने का अवसर भी नहीं मिल पाता। वास्तव में यह वस्तुयें हमारे जीवन का अनिवार्य और आवश्यक अंग बन जाती हैं और तत्पश्चात् उनका महत्व इतना अधिक बढ़ जाता है कि फिर उनके विषय में हमारी जिज्ञासा कभी जाग्रत ही नहीं होती। द्रव्य भी इसी प्रकार की एक वस्तु है, जिसके प्रयोग से हम सभी, बच्चे से बूढ़े तक भली भांति परिचित हैं। स्वाभाविक रूप से प्रत्येक व्यक्ति द्रव्य पाने के लिए प्रयत्नशील रहता है क्योंकि उसकी आवश्यकत

सभी को प्रतीत होती है। छोटे छोटे अज्ञान बच्चे भी इस द्रव्य की ओर स्वतः आकर्षित हो जाते हैं। यदि अन्य कोई कारण नहीं तो केवल इसलिए कि वह 'पैसे' की सहायता से 'मिठाई' अथवा 'खिलौना' ले सकेंगे। इसके बाद जब हम बड़े होते है तो हमें यह विश्वास हो जाता है कि बिना 'पैसे' के हमारा सांसारिक जीवन सुखमय न हो सकेगा और यही कारण है कि आज हर एक मनुष्य 'पैसे' के लिए इतना अधिक आतुर दिखाई पड़ता है। हां भी क्यों न, जब हम अपने चारों ओर देखते हैं कि पैसे वाला मनुष्य ही जीवन के सुख भोगने का अधिकार रखता है; समाज में उसी का सम्मान है, उसी की प्रतिष्ठा है; संसार की प्रत्येक वस्तु उसे उपलब्ध है। जिसके पास धन सम्पदा नहीं है. वह बेचारा न आदर पाता है और न अपनी आवश्यकताओं को ही पूरा कर पाता है; संसारिक सुख तो उसके लिए स्वप्न मात्र हैं।

यही नहीं, इसी द्रव्य के आधार पर हमारे मानव समाज का वर्गीकरण किया गया है। उच्च, मध्यम, और निम्न ये तीन श्रेणियां द्रव्य की मात्रा की ही द्योतक हैं। इन श्रेणियों के बीच प्रचलित संघर्ष, वैमनस्य तथा द्वेष का मूल कारण भी द्रव्य ही है। क्या हमने ऐसी व्यापक वस्तु के विषय में कभी सोचा है कि इसका जन्म कब और कैसे हुआ? यह आश्चर्य की बात है कि उस वस्तु के विषय में, जिसके ऊपर सारे संसार की दृष्टि हो. हम इतने अनभिज्ञ रहें! अतएव हम

सबसे पहले यही जानने का प्रयत्न करेंगे कि यह द्रव्य नामक वस्तु, जिसका इतना नाम और प्रभाव है, क्या है तथा इसका जन्म क्यों और कैसे हुआ।

विनिमय की आवश्यकता, लाभ और भेद

हम देख चुके हैं कि द्रव्य की ओर हमारे आकर्षण का कारण यह है कि उसके द्वारा हमें दूसरों की वस्तुएँ प्राप्त हो जाती हैं जिनसे हम अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति करके सुख और संतोष का अनुभव करते हैं। इस प्रकार वास्तव में हमारा आकर्षण अप्रत्यक्ष रूप में दूसरों के द्वारा तैयार की हुई वस्तुओं की ओर है। हमने अपने जीवन की आवश्यकताएँ इतनी अधिक बढ़ा ली हैं कि उनमें सब की पूर्ति हमारी शक्ति के बाहर की बात हो गई है। हममें से प्रत्येक को अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए अन्य लोगों के द्वारा तैयार की हुई अनेक वस्तुऐं लेनी पड़ती हैं, जबकि तैयार हम उनमें से एक ही आध कर पाते हैं। इस लिये यह अनिवार्य हो जाता है कि यदि हम दूसरों की वस्तुओं की इच्छा करें, तो बदले में अपनी वस्तु भी देने को तैयार हों। अपनी वस्तु देकर उसके बदले समाज के अनेक व्यक्तियों की वस्तुएँ प्राप्त करने को हम विनिमय कहते हैं। मानव-समाज को, विनिमय के सम्भव हो जाने से बहुत अधिक लाभ हुआ है। मनुष्य वास्तव में पशुओं की श्रेणी से उठकर मनुष्यता तक इसी विनिमय के सहारे ही पहुँचा है। हमारी सभ्यता तथा सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक

संगठन का ढांचा विनिमय के ही कन्धों पर टिका है। हमारी सुख समृद्धि इसी बात पर आश्रित है कि घर बैठे ही हमें सात समुद्र पार के लोगों की वस्तुएँ प्राप्त हो जाती हैं। उत्पादन और उद्योग के क्षेत्र में प्रचलित कार्य-विभाजन जिसके कारण हमारी उत्पादन-शक्ति आश्चर्यजनक रूप से बढ़ गई है, इसी लिये सम्भव है कि हम सब जानते हैं कि चाहे जो कार्य करें, उसके बदले हम जो चाहेंगे, हमें मिल सकेगा।

विनिमय दो प्रकार का होता है : प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष। प्रत्यक्ष विनिमय में हम अपनी आवश्यकता की वस्तु दूसरे से लेते हैं तथा उसके बदले में उसकी आवश्यकता की वस्तु उसे देते हैं। दूसरे शब्दों में वस्तु को वस्तु से बदलने की क्रिया को प्रत्यक्ष-विनिमय अथवा वस्तु-विनिमय कहते हैं।

जिस समय मनुष्य की आवश्यकताएँ कम थीं तथा मनुष्यों की संख्या परिमित थी, प्रत्यक्ष विनिमय में कोई विशेष कठिनाई न थी। परन्तु जब धीरे २ मनुष्य की आवश्यकताएँ बढ़ती गयीं एवं मनुष्यों की संख्या भी बढ़ती गयी तो इस प्रकार के विनिमय में असुविधा होने लगी। अतः वस्तु विनिमय के स्थान पर किसी सर्वमान्य माध्यम द्वारा विनिमय किया जाने लगा जिसे हम अप्रत्यक्ष विनिमय अथवा द्रव्य के उपयोग की अवस्था कह सकते हैं। जिस वस्तु को माध्यम बनाया गया उसी का नाम 'द्रव्य' पड़ा।

वस्तु-विनिमय की असुविधायें

प्रत्यक्ष वस्तु-विनिमय में हमें अनेक असुविधाओं का सामना करना पड़ता था—जिनमें निम्नलिखित विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं :

१—आवश्यकताओं का पारस्परिक संयोग

सबसे पहिली असुविधा ऐसा व्यक्ति ढूँढ़ने में हुई जो हमारी आवश्यकता की वस्तु हमें दे सके और साथ ही वह व्यक्ति ऐसा हो जिसे बदले में हमारी वस्तु लेने की इच्छा भी हो। उदाहरण के लिए, मान लें कि हमें कपड़े की आवश्यकता है और हमारे पास बदले में देने के लिये गेहूँ है। अब सबसे पहिले यह आवश्यक होगा कि हम ऐसा व्यक्ति ढूँढ़ें कि जिसके पास कपड़ा हो, और साथ ही उस व्यक्ति को गेहूँ की आवश्यकता हो। क्योंकि यदि हमें ऐसा व्यक्ति मिल भी गया जिसके पास कपड़ा हैं, परन्तु उसे गेहूँ की आवश्यकता न होकर दाल की आवश्यकता हैं, तो हमें कपड़ा न मिल सकेगा। इसी प्रकार प्रत्येक वस्तु के लिए जब तक दो ऐसे व्यक्तियों का साक्षात्कार न हो, जिन्हें परस्पर एक दूसरे की वस्तु की आवश्यकता है, वस्तुओं का आदान-प्रदान सम्भव नहीं। इसे हम आवश्यकताओं का पारस्परिक संयोग कहते हैं। इस प्रकार का संयोग साधारण जीवन में सदैव नहीं मिलता और इस कारण वस्तु-विनिमय में बहुत कठिनाई पड़ती थी।

२—विनिमय का अनुपात

इस सम्बन्ध में हमारी एक अन्य कठिनाई और भी थी। माना कि ऐसे दो व्यक्ति मिल जायें, जो एक दूसरे की वस्तुओं को लेने के लिये तैयार हैं, परन्तु अब समस्या सामने आती है कि यह लेन देन किस अनुपात से हो। दोनों ही व्यक्ति अपनी२ वस्तुओं को अधिक उपयोगी और मूल्यवान कहेंगे। जैसे हमारे उपर्युक्त उदाहरण में यह प्रश्न हो सकता है कि कपड़ा और गेहूँ की पारस्परिक विनिमय दर क्या हो। हम कम से कम गेहूँ देकर अधिक से अधिक कपड़ा पाना चाहेंगे और इसी प्रकार दूसरा व्यक्ति कम से कम कपड़ा देकर अधिक से अधिक गेहूँ लेना चाहेगा। इस झगड़े का निबटारा किस आधार पर हो, यह प्रश्न बहुत ही जटिल था जिसका सुलझाना सबके लिये सम्भव नहीं था।

३—वस्तु विभाजन

तीसरी कठिनाई वस्तु-विभाजन की थी। जैसे यदि हम मान लें कि हमें दो ऐसे व्यक्ति मिल गये, जिन्होंने मिल कर अपनी वस्तुओं की आपसी विनिमय दर निश्चित कर ली और लेन-देन करने को भी तैयार हैं परन्तु यह हो सकता है कि उनकी वस्तुयें ऐसी हों, जिनका विभाजन करना सम्भव अथवा उचित न हो। यदि 'क' अपने आम 'ख' की टोपी के बदले देने को तैयार है किन्तु यदि उसकेपास देने के लिए इतने आम नहीं हैं, जितने एक टोपी के बदले में 'ख' को चाहिए तो

ऐसी अवस्था में क्या यह सम्भव है कि 'ख' अपनी टोपी का आधा, तिहाई या चौथाई भाग 'अ' को देकर अपना और 'अ' का मनोरथ सिद्ध कर सके ? यह स्पष्ट है कि ऐसा नहीं हो सकता है, क्योंकि ऐसा करने से तो टोपी का अस्तित्व ही मिट जाता है। न टोपी का दिया हुआ टुकड़ा 'क' के किसी काम आ सकेगा और न बचा हुआ टुकड़ा 'ख' के काम का होगा।

द्रव्य का प्रयोग

इन विविध अड़चनों के कारण मनुष्य का ध्यान इस ओर आकृष्ट हुआ कि कोई वस्तु ऐसी होनी चाहिए जो सबको सदैव मान्य हो और जिसको प्रत्येक लेन-देन में माध्यम बनाया जा सके। अतः उसने इस कार्य के लिए समयानुसार, सुविधानुसार और अपने ज्ञान तथा अनुभव के अनुसार, क्रमशः कई वस्तुओं का उपयोग किया। जिस वस्तु का इस प्रकार उपयोग हुआ, उसीको द्रव्य' के नाम से सम्बोधित किया गया। यही द्रव्य का जन्म-काल कहा जा सकता है और यहीं से द्रव्य के उपयोग की अवस्था आरम्भ हो जाती है। द्रव्य के उपयोग से मनुष्य को अनेक लाभ हुए हैं। हम देखते हैं कि हमारा सारा विनिमय कार्य द्रव्य की सहायता से होता है और द्रव्य की ही सहायता से हमारी अनेक समस्यायें स्वतः हल हो गई हैं। हमारा व्यापारिक कार्य पहिले की अपेक्षा कहीं अधिक सरल बन गया है। अतएव इन लाभों का उल्लेख हम संक्षेप में यहाँ करेंगे।

द्रव्य के उपयोग से लाभ

१–द्रव्य के उपयोग से हमारी सबसे बड़ी यह असुविधा दूर हो गई कि अब हमें ऐसे व्यक्तियों को ढूँढ़ने का कष्ट नहीं उठाना पड़ता, जिनकी आवश्यकताओं में पारस्परिक संयोग हो। अपनी वस्तुओं को हम जब चाहें द्रव्य के बदले में बेचकर द्रव्य प्राप्त कर सकते हैं और यदि हमारे पास द्रव्य है तो हम बाजार से अपनी मन चाही, कोई भी वस्तु, किसी भी समय किसी भी मात्रा में पा सकते हैं। अतः द्रव्य ने मनुष्य को इस चिन्ता से मुक्त कर दिया कि जब तक ऐसे दो व्यक्ति न मिलें जिनकी आवश्यकताओं में पारस्परिक संयोग हो, तब तक उनकी आवश्यकतायें पूरी ही न हों। द्रव्य की यह बहुत बड़ी देन है।

२—द्रव्य के उपयोग से केवल ऐसे व्यक्तियों के ढूढ़ने की समस्या ही नहीं हल हो गयी जो अपनी वस्तु के देने के साथ ही साथ हमारी वस्तु स्वीकार करने को तैयार हों, किन्तु जन साधारण की एक और कठिनाई दूर हो गई। प्रत्यक्ष वस्तु-विनिमय में, यह निश्चय करना बड़ा कठिन था कि एक वस्तु की कितनी मात्रा दूसरी की कितनी मात्रा के लिए दी जावे। प्रत्येक वस्तु का प्रत्येक अन्य वस्तु के साथ अलग अलग सम्बन्ध निश्चय कर उन सबका याद रखना कठिन है। यहाँ यदि उदाहरण के लिए ३ वस्तुएँ ले लें, गेहूँ, अमरूद और कपड़ा, तो अब यह जानना आवश्यक होगा कि एक अमरूद या एक गज

कपड़ा के लिए कितना गेहूँ देना चाहिए। इन वस्तुओं में से प्रत्येक का, अन्य के साथ, इसी प्रकार सम्बन्ध स्थापित करना पड़ेगा। इसके अतिरिक्त यह भी ध्यान में रखना होगा कि इन सब सम्बन्धों में सामञ्जस्य रहे। यदि एक अमरूद के लिए एक पाव गेहूँ और एक गज कपड़े के लिए १ सेर गेहूँ देना पड़ता है, तो इन वस्तुओं का पारस्परिक सम्बन्ध ऐसा हो कि ४ अमरूदों के लिए १ गज कपड़ा मिल सके। यदि इस प्रकार का सम्बन्ध न होगा तो भाव में गड़बड़ हो जावेगा। इसके अतिरिक्त समाज में इस समय लाखों की संख्या में वस्तुएँ विनिमय के लिए हैं। यदि इन सबका विनिमय वस्तु के आधार पर किया जाय तो लाखों अनुपात तैयार करने पड़ेंगे और उन सबका याद रखना असम्भव होगा। किन्तु माध्यम रूप में एक वस्तु लेने से जितनी वस्तुएँ हैं केवल उतने ही अनुपात होंगे और एक वस्तु के साथ सभी सम्बन्धित होने के कारण, उनके तुलनात्मक अनुपातों में सामञ्जस्य की कठिनाई न रहेगी।

३—द्रव्य के प्रयोग से एक और अड़चन दूर हुई है। वस्तुओं का आपस में पूरी इकाइयों का अनुपात होता है किन्तु सदैव व्यक्ति को प्रत्येक वस्तु पूरी इकाई में ही आवश्यक नहीं होती है। इसके अतिरिक्त एक वस्तु को सदैव दूसरी एक वस्तु से ही नहीं बदलना होता है। कुर्सी बनाने वाला एक कुर्सी बना कर बाजार ले जाता है तो यह आवश्यक नहीं कि पूरी कुर्सी के बदले वह गेहूँ ले अथवा कपड़ा। यह अधिक सम्भव है कि

उसे गेहूँ, कपड़ा और बच्चों के लिए अमरूद की आवश्यकता हो। अब प्रश्न यह है कि उसकी कुर्सी का विनिमय इन सब वस्तुओं के साथ कैसे हो। यदि उसकी कुर्सी अधिक मूल्यवान है तो यह सम्भव नहीं है कि वह आधी या चौथाई या इससे भी कम कुर्सी का टुकड़ा देकर ४-६ अमरूद ले सके, क्यों कि ऐसा करने से कुर्सी का मूल्य तो बिलकुल नष्ट ही हो जायगा। अतः यदि कोई ऐसी वस्तु हो जो सब के लिए आकर्षक होने के साथ ही ऐसी हो जिसे बिना अड़चन के अलग २ बांटा जा सके तो फिर यह कठिनाई दूर हो जावे। यह कार्य द्रव्य ने सरल कर दिया है।

इस भांति मनुष्य ने अपनी सुविधा के लिए एक ऐसा साधन ढूँढ़ निकाला जिसकी सहायता से वह अपना विनिमय कार्य बड़ी सुविधा और सरलता से कर सकता है। उस वस्तु को जिसका सहारा लिया गया हमने 'द्रव्य' का नाम दिया। इस प्रकार हम यह नहीं कह सकते कि केवल रूपया ही द्रव्य हैं। वरन् द्रव्य शब्द से हमारा संकेत प्रायः उन सभी वस्तुओं की ओर होता है जो हमारे विनिमय कार्य में सहायक हों।

यदि मनुष्य स्वावलम्बी बना रहता तो कदाचित् इस द्रव्य नामक वस्तु के प्रयोग की आवश्यकता ही न पड़ती। जैसे जैसे हमारा विनिमय तथा व्यापार अधिकाधिक विस्तृत होता गया, उसके माध्यम 'द्रव्य' का रूप भी बदलता गया।



द्रव्य की परिभाषा
और
उसके कार्य

परिभाषा के विषय में विभिन्न विचार
विभिन्न परिभाषाएँ
द्रव्य के कार्य्य :

माध्यम
माप
मान
संचय

विशेष कार्य :

पारिश्रमिक
पूजा औरसाख
उपभोग

परिच्छेद दो



द्रव्य की परिभाषा और उसके कार्य

प्रथम परिच्छेद में हमने बताया था कि द्रव्य का जन्म कैसे हुआ। साथ ही साथ हमने यह भी समझा कि 'द्रव्य' शब्द बहुत ही व्यापक है। उसका अर्थ केवल रुपया पैसों से ही नहीं है वरन् उसके अन्तर्गत वह सभी वस्तुएँ आ जाती हैं जिनका प्रयोग हम अपने विनिमय कार्य को सरल बनाने के लिये साधन-स्वरूप करें, चाहे वह वस्तु धातु की हो या कागज़ की अथवा कोई अन्य वस्तु। वास्तव में यह प्रश्न तो हमारी सुविधा और हमारे आर्थिक साधनों के ऊपर निर्भर है। यही कारण है कि हमने समयानुसार, आवश्यकतानुसार और इसी प्रकार की अन्य बातों को ध्यान में रखते हुए द्रव्य-वस्तु में अनेक परिवर्तन किए हैं जिनका विवेचन हम आगे चल कर करेंगे। इसके पहले हमें यह जान लेना चाहिए कि द्रव्य की वास्तविक परिभाषा क्या

हो सकती है ताकि हम भ्रमवश यह न समझ लें कि द्रव्य से हमारा तात्पर्य केवल उन नोटों, और चाँदी, ताँबे आदि धातुओं के टुकड़े से ही है जिनका प्रयोग हम भारतवासी आज कल प्रचलित द्रव्य के रूप में करते हैं जैसे रुपया, अठन्नी, चवन्नी, दुअन्नी इकन्नी, पैसा आदि। अतएव अब हम पहिले द्रव्य की परिभाषा का ही विचार करेंगे।

परिभाषा के विषय में विभिन्न विचार

द्रव्य की परिभाषा के विषय में मतभेद है। कुछ लोग इसको बड़े ही संकुचित दृष्टिकोण से देखते हैं। उनके अनुसार केवल धातु की ही मुद्रा द्रव्य मानी जा सकती है। उनसे कुछ अधिक व्यापक अर्थ लेनेवाले धातु की मुद्रा के साथ ही आधुनिक युग में मुद्रा की ही भांति प्रचलित नोटों को भी द्रव्य में सम्मिलित कर लेते हैं। किन्तु वर्तमान समय में धातु की मुद्रा तथा नोटों से भी अधिक साख पर प्रचलित द्रव्य का प्रवेश होंने लगा है। इस कारण अधिक व्यापक अर्थ लेने वाले बैंक के चेक, प्रतिज्ञा-पत्र, हुण्डी तथा बिल को भी द्रव्य का एक रूप समझते हैं। पहिले प्रकार का विचार रखने वाली परिभाषायें उस समय की है जब केवल धातु की मुद्रा का ही प्रयोग द्रव्य रूप में हुआ था। इस कारण वे परिभाषाएँ दोषपूर्ण नहीं कही जा सकतीं। अपने युग में वे ठीक थीं। किन्तु आजकल भी कुछ लोग उन्हें इस प्रकार सिद्ध करते हैं कि अन्य सब वस्तुएँ जिन्हें हम द्रव्य मानते हैं वे स्वयम् द्रव्य न हो कर द्रव्य की प्रतिनिधि मात्र हैं।

दूसरी ओर से यह भी कहा जा सकता है कि यद्यपि जिस रूप में हमने इसके पहिले द्रव्य के स्वरूप को स्वीकार किया था उसी का आधार लेकर इन प्रतिनिधियों का जन्म हुआ है। किन्तु आज के युग में पहिले मूल द्रव्य के द्वारा होनेवाले आदान प्रदान का अधिकांश कार्य इन्हीं की मध्यस्थता में होता है। इसके अतिरिक्त द्रव्य को स्वयम् द्रव्य की स्थूलता के लिए हम स्वीकार नहीं करते; उसे हम उसके कार्यों के लिए लेते हैं। इस प्रकार जब किसी वस्तु में वही उपयोगिता है जो द्रव्य में होनीं चाहिए तो उसे द्रव्य मानने में हिचकने का कोई कारण नहीं।

दूसरा विचार ठीक होते हुए भी पूर्ण सत्य नहीं कहा जा सकता है। इसका कारण यह है कि द्रव्य का प्रतिनिधित्व करने वाली वस्तुएँ द्रव्य का कार्य स्वतन्त्रता पूर्वक तभी कर पाती हैं जब आदान प्रदान के दोनो पक्षों को वह मान्य हों। यदि किसी व्यक्ति को चेक या हुण्डी के बदले में कुछ माल देने के लिए कहा जाए और वह माल के लिए चेक या हुन्डी लेना अस्वीकार करदे तो ऐसा करने के लिए उसे वाध्य नहीं किया जा सकता। किन्तु यदि कोई दूकानदार माल के बदले धातु की प्रचलित मुद्रा अथवा नोट लेने में आना कानी करे तो उन्हें स्वीकार करने के लिए उसे वाध्य किया जा सकता है। इस सबसे हम इस निर्णय पर पहुँचते हैं कि हम द्रव्य के पूर्ण गुणों से युक्त केवल धातु की मुद्रा और नोटों को पाते हैं। इन्हें दूसरे शब्दों में राज-द्रव्य या करेंसी कहते हैं। अन्य वस्तुएँ केवल विशेष परिस्थितियों में

द्रव्य होती हैं और इस कारण उन्हें, उनकी व्यापकता को सीमित करने वाली सब विशेषताओं के साथ ही द्रव्य माना जा सकता है। द्रव्य दोनों हैं, केवल व्यापकता का अन्तर है।

विभिन्न परिभाषायें

हार्टले विदर्स ने द्रव्य की बड़ी ही सरल तथा मनोरञ्जक परिभाषा लिखी है। उनके अनुसार "द्रव्य स्वयम् वही है जो कुछ कि वह करता है।" वास्तव में यह परिभाषा सदैव सत्य और वाद-विवाद से मुक्त होते हुए भी परिभाषा न होकर परिभाषा में जो कुछ होना चाहिए उसकी ओर संकेत मात्र है। "द्रव्य वह वस्तु है जिससे किसी ऐसी वस्तु का अर्थ निकलता हो जिसे माल के बदले में या अन्य किसी व्यापारिक अर्थ की पूर्त्ति के लिए व्यापक रूप में स्वीकार किया जाता हो।" ऊपर राबर्टसन् के मतानुसार कोई वस्तु जिसे लोग व्यापार में बेखटके स्वीकार करें 'द्रव्य' कहला सकती है।

इसीसे मिलती जुलती एली की परिभाषा है। "द्रव्य कोई भी ऐसी वस्तु है जो आदान प्रदान में माध्यम के रूप में बिना अड़चन के एक हाथ से दूसरे में जाती हो और जो ऋण से पूर्णतः मुक्ति के लिए दी जाती हो।" इसमें कुछ शब्दों के फेर से ऊपर वाली परिभाषा का ही सार मिलता है।

सेलिग्मैन की इस परिभाषा में कि "द्रव्य एक ऐसी वस्तु है जिसमें सर्वसाधारण के हाथों स्वीकृति का गुण हो" अपूर्णता

का दोष है। इसमें द्रव्य के केवल एक गुण की ओर संकेत है। कोल की परिभाषा बहुत ही व्यापक है। उनके अनुसार "द्रव्य वह है जो वस्तुएँ मोल लेता है—क्रय शक्ति।"

मार्शल ने इस सम्बन्ध में शब्दों की कंजूसी न करके अधिक विस्तृत तथा सार्थक परिभाषा देने का प्रयत्न किया है। उनकी परिभाषा है कि "द्रव्य में वह सभी वस्तुएँ सम्मिलित हैं जो (किसी समय या स्थान पर) बिना सन्देह या विशेष पूछताछ के वस्तुओं तथा सेवाओं को मोल लेने और अन्य खर्च चलाने के साधनों के रूप में साधारण रूप से प्रचलित होती हैं।"

इन सब परिभाषाओं में द्रव्य का परिचय देने का प्रयत्न किया गया है। किन्तु द्रव्य में इतने अधिक रूप बदलने की शक्ति है और इसके कार्य इतने बहुमुखी हैं कि सूक्ष्म रूप में इसका परिचय करा सकना बड़ा ही कठिन हो गया है।

यथार्थ में यदि देखा जाए तो द्रव्य की परिभाषा ऐसी होनी चाहिए जिससे पाठकों को उसके समस्त कार्यों और लक्षणों का संक्षेप में ज्ञान हो। सके क्योंकि परिभाषा से हमारा आशय संक्षिप्त विवरण से होता है। अतएव यदि हम द्रव्य की परिभाषा चाहते हैं तो यह उचित है कि पहिले हमें उसके कार्यों का समुचित ज्ञान हो। इस प्रकार जब यह ज्ञान हो जाएगा तो फिर उसकी परिभाषा देने का कार्य बहुत ही सरल हो जाएगा। इसलिए पहिले हम द्रव्य के कार्यों का उल्लेख करेंगे और फिर उन सब

कार्यों के आधार पर ही संक्षेप में उनका सार देते हुए परिभाषा तैयार करेंगे जिससे पाठक स्वयम् समझ सकें कि वह परिभाषा द्रव्य के समस्त कार्यों से अवगत कराने में कहाँ तक सफल है।

द्रव्य के कार्य

द्रव्य के विषय में अंग्रेजी का एक छोटा सा दो पंक्तियों वाला छन्द उसके कार्य बताने के लिए बहुत प्रचलित है। उसको हम हिन्दी में इस प्रकार कह सकते हैं:—

द्रव्य चार कामों का निश्चय
माध्यम, माप, मान औ संचय

मूलरूप से द्रव्य के चार कार्य माने गए हैं, जिनका उपर्युक्त पंक्तियों में संकेत किया गया है। द्रव्य का सबसे पहिला कार्य विनिमय के माध्यम रूप में हैं। द्रव्य के विकास में ही हम यह देख चुके हैं कि वास्तव में द्रव्य का जन्म हो इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए हुआ था; अन्य कार्य तो उसके पीछे जुड़ गए हैं। जब द्रव्य का प्रयोग माध्यम के रूप में नहीं होता था तो प्रत्यक्ष आदान प्रदान में अनेकों असुविधाएँ होती थीं जिनको हम पहले ही द्रव्य के विकास का अध्ययन करते समय देख चुके हैं। आवश्यकता पारस्परिक के संयोग का पता लगाने में कष्ट होता था। द्रव्य की सहायता से उससे मुक्ति मिल गई है। अब इस बात की आवश्यकता नहीं है कि जिस व्यक्ति को हम अपनी वस्तु देरहे हैं उससेबदले में मिलने वाली वस्तु हमारे काम की हो।

उससे अब हमें बदले में एक ऐसी वस्तु मिलती है जो स्वयम् उपयोगी न होकर भी सबके आकर्षण की वस्तु होती है। यह वही द्रव्य है जिसके बदले में प्रत्येक व्यक्ति वस्तु या सेवा देने को तैयार रहता है। आज के समाज में नित्य असंख्य वस्तुएँ एक हाथ से दूसरे में बिना रोक टोक के आती जाती हैं, इस सबका श्रेय द्रव्य को ही प्राप्त है।

माप

द्रव्य का दूसरा काम वस्तुओं के मूल्य की माप करना है। बिना माप के प्रत्येक वस्तु का अन्य वस्तुओं से सम्बन्ध स्थिर करना असम्भव कार्य है और जहाँ वस्तुओं की ही गणना कठिन है, वहाँ इन पारस्परिक संम्बन्धों की गणना कैसे होगी, इसका सरलता से अनुमान नहीं लगाया जा सकता। किन्तु द्रव्य की सहायता से यह कार्य सरल हो गया है। जितनी भी वस्तुएँ हैं उन सबका मूल्य हम सरलता से जान सकते हैं। द्रव्य सर्वमान्य माप होने से हमारी सबसे बड़ी असुविधा दूर हो गई। अब यह आवश्यकता नहीं हैं कि हम अपने विनिमय कार्य के लिए प्रत्येक वस्तु का पारस्परिक मूल्य अलग अलग ज्ञात करें। केवल एक वस्तु अर्थात् द्रव्य के साथ सम्बन्ध बता देने से काम चल जाता है। द्रव्य का यह कार्य यद्यपि विकास-क्रम से दूसरा स्थान रखता है, किन्तु आज के व्यापार में द्रव्य इस रूप में भी उतना ही अधिक उपयोगी है जितना कि माध्यम के रूप में।

मान

आज कल हमारा सब का लेन देन तुरन्त ही नहीं हो जाता है। बहुत सी बातों की प्रतिज्ञा हम इस समय करते हैं किन्तु पूरा हम उन्हें भविष्य में करते हैं। उदाहरण के लिए किसी स्थान या वस्तु का किराया हम अभी निश्चित कर लेते हैं किन्तु कुछ समय बाद उसका भुगतान करते हैं। इसी प्रकार हम लोगों से ऋण लेते हैं और अभी लिया हुआ मूल्य हम भविष्य में देने की प्रतिज्ञा करते हैं। यदि हम यह मान लें कि हम किराया गेहूँ में देने की प्रतिज्ञा करते हैं या अभी उधार लिए गेहूँ को हम गेहूँ में ही भुगतान करने का वचन देते हैं तो यह सम्भव है कि भविष्य में गेहूँ के मूल्य में ही परिवर्तन हो जावे। गेहूँ का वास्तविक मूल्य उसकी उपज पर निर्भर है। यह सम्भव है कि इस समय गेहूँ की अधिक उपज के कारण उसे सुलभ समझ कर किराए में अधिक देने का वचन दे दें, किन्तु देते समय उपज की कमी के कारण हो सकता है कि गेहूँ सुलभ न हो और हमें यह जान पड़े कि हमें किराया अनुमान से कई गुना अधिक देना पड़ रहा है। पुनः मान लिया कि कमी के कारण गेहूँ बहुत अधिक मूल्यवान हो गया है। और आवश्यकता होने पर हमने किसी व्यक्ति से गेहूँ उधार लिया। यदि जिस समय हमें गेहूँ देना है, उपज के बाहुल्य के कारण गेहूँ सरलता से सुलभ हो, तो पाने वाला निश्चय ही सोचेगा कि उसने उधार में जितना मूल्य दिया

था उतना मूल्य लौट कर उसे नहीं मिल रहा है। किन्तु न्याय यह कहता है कि जहां तक सम्भव हो उतना ही मूल्य दिया जाए जितना देने का बचन दिया हो या उधार लिया हो। इस उद्देश्य की पूर्तिके लिए आवश्यक है कि कोई वस्तु ऐसी हो जिसको माप-दण्ड मान कर वर्त्तमान तथा भविष्य दोनों के मूल्य की तुलना उसके साथ कर दी जावे। इस कार्य के लिए द्रव्य ही सबसे उपयुक्त है क्योंकि इसका मूल्य साधारणतः स्थिर रहता है। यद्यपि आगे चलकर हम यह पढ़ेंगे कि द्रव्य का मूल्य भी बदलता है। किन्तु उसके मूल्य का सम्बन्ध सब वस्तुओं के उत्पादन के साथ है इसलिए एक दो वस्तुओं के कम या अधिक उत्पादन का उसके मूल्य पर कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ता है।

संचय

द्रव्य का चौथा उपयोग मूल्य के संचय के रूप में है। भविष्य के लिये संचय करना मनुष्य की बुद्धिमत्ता का प्रतीक है। चींटी और मधुमक्खी जैसे निम्नश्रेणी के जीव तक भविष्य के लिए संचय करते हैं। परन्तु मनुष्य के और जीवों के संचय में बहुत बड़ा अन्तर है। मनुष्य स्वयम् वस्तु का संचय न करके उसे प्राप्त करने के साधन का संचय करता है। वस्तुओं का संचय करने में सबसे पहिला दोष यह है कि सभी वस्तुएँ इतनी टिकाऊ नहीं होती कि उन्हें ज्यों का त्यों संचित किया जा सके। दूध वाला ग्वाला यदि चाहे कि अगले

जाड़े में कम्बल के साथ बदलने के लिए थोड़ा थोड़ा दूध अभी से संचय करता जावे तो यह एक असम्भव कार्य होगा। साथ ही कुछ ऐसी भी वस्तुएँ हैं जो क्षयशील हैं जैसे बर्फ, हरे साग आदि। उनका संचय करना एक दुस्साहस है क्योंकि अधिक समय तक संचित करने से उनकी वास्तविक उपयोगिता का अस्तित्व ही मिट जाता है। इसलिए ग्वाला अपने दूध को द्रव्य से बदल लेता है और उस द्रव्य को संचित करके रखता जाता है। इसके अतिरिक्त द्रव्य रूप में न संचय करके भविष्य के लिए यदि वस्तुओं का ही संचय करे तो एक कठिनाई उन वस्तुओं का निश्चय करने में आवेगी जिनकी कि भविष्य में उसे या उसकी संतान को आवश्यकता पड़ेगी। यह सम्भव है कि ऊपर के उदाहरण वाला ग्वाला नित्य अपने दूध से बदल कर भविष्य के लिए उपयोगी वस्तुओं का संचय करता रहे किन्तु उपभोग का समय आने पर पता चलेगा कि उसका अनुमान कहां ठीक था। अनेक ऐसी वस्तुओं की आवश्यकता आ पड़ती है जिन्हें उसने संचित न किया हो। किन्तु द्रव्य एक ऐसी वस्तु है जिसके द्वारा प्रत्येक वस्तु बिना रोक टोक के प्राप्त की जा सकती है।

द्रव्य ने इस संचय कार्य द्वारा हमारी बहुत सहायता की है। उदाहरण के लिए हम एक ऐसे किसान को ले लेते हैं जो किसी कार्यवस एक दूर के नगर को कुछ समय के लिए जाता है। किसान के पास सब काम के लिए

गेहूँ है। अब यदि द्रव्य न होता तो उसे बाध्य होकर बहुत बड़ी मात्रा में गेहूँ ले जाना होता। किन्तु आजकल ऐसा आवश्यक नहीं है। किसान गेहूँ को अपने स्थान पर द्रव्य के बदले बेच देता है और नगर में उसी द्रव्य को लेकर पहुँचता है। अब इस द्रव्य से किसान आवश्यकता पड़ने पर गेहूँ फिर मोल ले सकता है। इस प्रकार द्रव्य की सहायता से हम मूल्य को अल्पकालीन संचय के द्वारा एक स्थान से दूसरे स्थान को स्थानान्तरित कर सकते हैं।

विशेष कार्य

उपरोक्त चार कार्यों के अतिरिक्त आजकल के समाज में द्रव्य के अन्य कई कार्य हो गए हैं। हम पहले ही देख चुके हैं कि द्रव्य का प्रादुर्भाव जिस उद्देश्य से हुआ था, उसके कार्य केवल उसी उद्देश्य की पूर्ति तक सीमित नहीं रहे। द्रव्य की सहायता से समाज में विकास हुआ और समाज के विकास के साथ द्रव्य में भी विकास हुआ। द्रव्य का कार्य-क्षेत्र दिनों दिन विस्तृत होता गया और आज हम उसे अनेकों ऐसे कार्य करते हुए पाते हैं जिनकी द्रव्य के विकास के समय कल्पना तक न हुई होगी।

प्रो० किनले के अनुसार इन कार्यों को हम विशेष परिस्थिति वाले कार्य कह सकते हैं। इन में मुख्य यह हैं:—

परिश्रमिक

आजकल अधिकांश वस्तुओं का उत्पादन हजारों व्यक्तियों

के सामूहिक प्रयत्न का परिणाम है। यदि द्रव्य न होता तो प्रत्येक के प्रयत्न का पुरस्कार उत्पादन का एक अंश देकर चुका सकना असम्भव होता। वस्तु के उत्पादन में प्रत्येक ने कितना प्रयत्न किया इसे नाप कर उसी वस्तु में उसका पुरस्कार देना प्रायः असम्भव हो जाता। इसके अतिरिक्त बहुत सी ऐसी वस्तुओं का उत्पादन होता है जो बनाने वालों के स्वयम् उपभोग में नहीं आ सकती। उदाहरण के लिए जहाज बनाने वालों को जहाज के ही रूपमें किस प्रकार परिश्रमिक दिया जा सकता है? किन्तु द्रव्य ने उत्पादन के कार्य में भाग लेने वाले प्रत्येक व्यक्ति को पारिश्रमिक देने में बहुत सहायता की है।

पूँजी और साख

आजकल व्यापार तथा उत्पादन दोनों की उन्नति में ऋण से बहुत सहायता मिलती है। सम्मिलित पूँजी वाली कम्पनियों का मूलधन थोड़ा-थोड़ा करके हजारों व्यक्ति इकट्ठा करते हैं। यह द्रव्य की सुविधा के ही कारण सम्भव है। अन्यथा किसी की मूली तथा किसी की गाजर लेकर किए गए ढेर के द्वारा कोई उद्योग या कोई व्यापार चलाना कहां तक सम्भव होता इसकी कल्पना भी नहीं की जा सकती है। व्यापार में प्रयुक्त होने वाले साख पत्रों का भी आधार द्रव्य ही हैं।

उपयोग

उपभोक्ताओं के लिए भी द्रव्य की ही सहायता से यह संभव है कि अपने खर्च को वे इस प्रकार से निश्चित कर लेते

हैं कि प्रत्येक वस्तु से लगभग बराबर उपयोगिता प्राप्त करके कुल मिला कर अधिक से अधिक उपयोगिता के अधिकारी हो जायें। द्रव्य के अभाव में खर्चों को इस प्रकार निश्चित कर सकना सम्भव नहीं था।

अब हम अपने पुराने प्रश्न पर पुनः आते हैं कि द्रव्य की परिभाषा क्या होनी चाहिये। यदि हम सचमुच द्रव्य के समस्त कार्यों से भली भांति परिचित हो गए हैं तो फिर यह समझने में कठिनता नहीं रहती कि 'द्रव्य वह वस्तु है जिसका उपयोग हम अपने विनिमय व्यापार में करें और जिसकी सहायता से हमारे अन्य विनिमय सम्बन्धी काय सपन्न हो सकें'। इस प्रकार हम देखेंगे कि इस परिभाषा में हम उन सभी वस्तुओं को सामिल करते हैं जिन्हें हम अपने विनिमय का साधन बनाएँ। चाहे वह धातुके सिक्के हों या कागज के नोट; अथवा बैंककी चेक हों या व्यापारियों के साख पत्र हों। इन सबका महत्व प्रायः बराबर ही है यदि हम उनका उपयोग विनिमय के साधन केलिए करें। हां, इतना अन्तर अवश्य है; कि कुछ का प्रयोग निस्संकोच स्वतंत्रता पूर्वक होता है और उनकी मान्यता सबके लिए बाध्य होती है जैसे सरकारी सिक्के, नोट आदि। इसके विपरीत बैंक की चेक आदि का प्रयोग कम होता है। और उनकी मान्यता सबके लिए बाध्य नहीं हो सकती। परन्तु क्या हम यह कह सकते हैं कि चेक आदि की उपयोगिता सरकारी नोटों से किसी भी अंश में कम है जब हम उनका उपयोग सभी बड़े मूल्य वाले व्यापारिक लेनदेन में

करते हैं। हम तो यही कहेंगे कि वहां उनका महत्व सरकारी नोटों से कहीं अधिक है जहां लाखों करोड़ों रुपये का लेन-देन होता है। वहां यदि नोटों का ही उपयोग किया जाए तो सम्भव है कि एक बहुत बड़ी असुविधा हो। यही कारण है कि व्यापार में बैंक द्वारा चलाए द्रव्य अर्थात् चेक का उपयोग अधिकांश में होता है क्योंकि वह अधिक सुविधा जनक है। मनुष्य को उसके कार्य में सुविधा पहुँचाना द्रव्य का एक बहुत ही महत्व पूर्ण कार्य है जिसके कारण ही उसका जन्म हुआ।



द्रव्य वस्तु के गुण

द्रव्य वस्तु के आवश्यक गुण :

उपयोगिता
दुर्लभता
मूल्य स्थिरता
टिकाऊपन
सूक्ष्मता
अनुरूपता और स्पष्टता
विभाजनशीलता और
आकार ग्राह्यता
मितव्ययिता

परिच्छेद तीन



द्रव्य वस्तु के गुण

द्रव्य क रूप में प्रयोग होने वाली वस्तुओं की बहुत बड़ी संख्या है। समय-समय पर ऐसी बिभिन्न वस्तुओं का प्रयोग किया गया है जिन्हें सुन कर आज हम बड़ा आश्चर्य प्रकट करने लगेंगे। मृगचर्म, तम्बाकू, नमक, कौड़ी, चाय, अनाज आदि वस्तुओं से लेकर भेड़, बकरी, गाय आदि पशुओं तक का व्यवहार किया गया। कहीं-कहीं तो गुलामों तथा स्त्रियों तक को द्रव्य रूप में प्रयोग किया गया है। सुविधानुसार विभिन्न देश तथा काल में अलग-अलग वस्तुओं का उपयोग हुआ और अनुभव के आधार पर एक वस्तु को हटाकर लोगों ने दूसरी का व्यवहार किया। इसका कारण यह था कि उस अमुक वस्तु के प्रयोग से लोगों को असुविधा का अनुभव होने लगा और साथ ही उस वस्तु में वह क्षमता न रह गई जिसके

द्वारा वह द्रव्य के सम्पूर्ण कार्य कर सकती। अतएव इस प्रकार का परिवर्तन स्वाभाविक और अनिवार्य था। द्रव्य के कार्यों का विचार हम पहिले ही कर चुके हैं। यह अब हम यहजानने का प्रयत्न करेंगे कि किसी रूप को द्रव्य वस्तु में प्रयोग करने के लिये उसमें किन-किन गुणों का होना आवश्यक है जिससे वह द्रव्य रूप में हमें अधिक से अधिक उपयोगिता दे सके।

द्रव्य वस्तु के आवश्यक गुण

अगर हम किसी वस्तु का द्रव्य रूप में प्रयोग करना चाहते हैं तो हमें सबसे पहिले यह समझ लेना चाहिये कि उस अमुक वस्तु में निम्नलिखित विशेपतायें हैं अथवा नहीं। जिस वस्तु में जितने ही अधिक यह लक्षण होंगे वह वस्तु उतनी ही अधिक उपयोगी सिद्ध होगी।

१—उपयोगिता
२—दुर्लभता
३—मूल्य स्थिरता
४—टिकाऊपन
५—सूक्ष्मता
६—अनुरूपता और स्पष्टता
७—विभाजन शीलता और आकार ग्राह्यता
८—मितव्ययिता

उपयोगिता

द्रव्य वस्तु का सबसे पहिला गुण उसकी उपयोगिता है।

माध्यम स्वरूप प्रयोग में आने के लिये, हम पहिले कह चुके हैं कि ऐसी वस्तु ही चुनी गई जिसे सब लोग अपनी वस्तु या सेवा के बदले लेने को तैयार थे। यह स्वाभाविक भी है क्योंकि हर एक मनुष्य ऐसी वस्तु ही स्वीकार करने को तैयार होता है जिसकी उपयोगिता से वह भली भाँति परिचित हो और उसे उस वस्तु की उपयोगिता पर इतना अधिक विश्वास हो कि समय पड़ने पर द्रव्य रूप में वह वस्तु उपयोगी न होने पर भी उसका अपना स्वयं इतना मूल्य होगा कि कोई भी दूसरा व्यक्ति किसी भी अन्य वस्तु के बदले में उसे लेने को तैयार हो जायगा। आज कल प्रयोग में आने वाले कागज़ के नोटों को बे रोक टोक चलते देखकर ऊपर के उपयोगिता वाले कथन पर सन्देह हो सकता है क्योंकि नोटों का अपना मूल्य कागज रूप में नहीं के तुल्य है। इस सम्बन्ध में यह जान लेना उचित है कि नोट स्वयं द्रव्य न होकर द्रव्य के प्रतीक मात्र हैं और ऊपर छपी हुई प्रतिज्ञा के विश्वास पर, कि किसी भी समय वे द्रव्य के मौलिक रूप में बदले जा सकते हैं, वे चलते हैं। दूसरे, उपयोगिता का उद्देश्य है कि माध्यम रूप में द्रव्य जन साधारण को स्वीकृत हो। जब राजनियमों के द्वारा उस जन साधारण की स्वीकृति का उद्देश्य पूरा हो जाता है तो उपयोगिता का महत्व नहीं रह जाता।

दुर्लभता

वस्तु उपयोगी होते हुए भी यह हो सकता है कि वह

प्रचुर मात्रा में हर एक व्यक्ति को सरलता पूर्वक उपलब्ध होने के कारण जन साधारण के लिये अधिक आकर्षक न हो और कोई भी व्यक्ति अपनी वस्तु या सेवा उसके साथ बदलने को तैयार न हो। उदाहरण के लिये हम पानी और हवा को ले सकते हैं। यह दोनों वस्तुयें जीवन के लिये अधिक उपयोगी होते हुये भी इतनी सरलता से और इतनी अधिक मात्रा में सुलभ हैं कि कोई भी मनुष्य उन्हें प्राप्त करने के लिये सहसा अपनी वस्तु या सेवा देने को तैयार न होगा। इसलिये वस्तु आकर्षक होने के लिये दुर्लभ होनी चाहिये। उपयोगी वस्तु यदि कठिनता से प्राप्य होगी तो प्रत्येक व्यक्ति उसे पाने के लिये अपनी वस्तु या सेवा देने को सदैव तैयार रहेगा।

मूल्य में स्थिरता

द्रव्य वस्तु का तीसरा गुण मूल्य की स्थिरता है। द्रव्य के कार्य्यों का अध्ययन करते समय हम देख चुके हैं कि अनेक वस्तुओं का मूल्य समय समय पर मांग और पूर्ति के नियमों के अनुसार बदलता रहता है। इस कारण भविष्य में होने वाले भुगतान नहीं हो सकते अथवा उनमें बहुत बड़ी बाधा पड़ सकती है। इसी मूल्य परिवर्तन की अड़चन से बचने के लिये द्रव्य का प्रयोग होता है। अतः द्रव्य वस्तु में मूल्य की स्थिरता का गुण होना बहुत आवश्यक है।

टिकाऊपन

द्रव्य के रूप में मूल्य का संचय भी किया जाता है। अतः

संचय की जाने वाली वस्तु ऐसी होनी चाहिये कि जो शीघ्र नष्ट न हो अन्यथा संचय व्यर्थ हो जावेगा। इसलिये द्रव्य वस्तु टिकाऊ होनी चाहिये। उदाहरण के लिये यदि बरफ़ का द्रव्य रूप में प्रयोग किया जाय तो वह व्यक्ति जिसके पास हज़ारों रुपये के मूल्य की बरफ़ संचय की गई रक्खी हो कुछ घंटों बाद ही कंगाल हो सकता है क्यों कि बरफ़ शीघ्र ही नष्ट होने वाली वस्तु है अतः उसका संचय करना बहुत बड़ी भूल होगी।

सूक्ष्मता

हम पहले देख चुके हैं कि द्रव्य का उपयोग सुविधा के लिये होता है। वस्तु को वस्तु से बदलने में बहुत बड़ी असुविधा मुख्य कर भारी वस्तु को दूर तक ले जाने में होती है। सबसे बड़ी असुविधा तो तब होगी जब हमें दूर के स्थानों तक विनिमय कार्य के लिये ऐसी भारी वस्तु को ले जाना पड़े जैसे, यदि पत्थर और लोहा के समान भारी वस्तुओं का द्रव्य रूप में प्रयोग किया जाय तो उनके रूप में द्रव्य को एक स्थान से दूसरे स्थान तक ले जाना एक बहुत ही कठिन समस्या हो जायगी। हो सकता है, यदि द्रव्य अधिक हुआ तो उसे ढोने के लिये सवारी का विशेष रूप से प्रबन्ध करना पड़े जो कहीं अधिक व्ययपूर्ण होगा। इस असुविधा से बचने के लिये यह आवश्यक है कि जिस वस्तु का द्रव्य रूप में प्रयोग किया जाय वह आकार तथा बोझ में सूक्ष्म हो। किन्तु साथ ही उसका मूल्य अधिक हो। ऐसा होने से द्रव्य अधिक मान और

अधिक मूल्य में एक स्थान से स्थानान्तरित किया जा सकेगा।

अनुरूपता और स्पष्टता

इसके अतिरिक्त द्रव्य वस्तु इस प्रकार की होनी चाहिये कि उसे सरलता से पहचाना जा सके। यदि उसकी पहचान के लिये रसायनिक प्रयोग करने पड़े या उसे विशेषज्ञों से परखवाना पड़ा तो वह द्रव्य उपयोगी सिद्ध न होगा और न वह विनिमय कार्य में सहायक ही हो सकेगा। द्रव्य वस्तु ऐसी होनी चाहिये कि वह पढ़े और अनपढ़े, वहिरे और अन्धे सभी मनुष्यों के लिये स्पष्ट हो अर्थात् सब लोग सरलता पूर्वक उसकी आवाज सुनकर, देख कर अथवा टटोल कर उसे पहचान लें। यदि ऐसा न होगा तो सीधे स्वभाव वाले मनुष्यों का धूर्त लोगों द्वारा ठगा जाना सरल हो सकता है। इसके अतिरिक्त यह भी आवश्यक है कि द्रव्य की विभिन्न इकाइयां अलग २ मूल्य की एक दूसरे के अनुरूप हों। जैसे अपने देश में देखते हैं कि रूपये वाली मुद्रायें सब एक समान हैं और इसी प्रकार अन्य मुद्रायें भी नाप, तौल, मूल्य, आकार और आवाज में एक समान हैं यदि ऐसा न हो तो बड़ी गड़बड़ी और धोखा धड़ी हो सकती है।

विभाजनशीलता और आकार ग्राह्यता

उत्तम द्रव्य के लिये यह आवश्यक है कि वह ऐसी वस्तु का बनाया जाय जिसका छोटे बड़े, विभिन्न नाप तौल और मूल्य के टुकड़ों में विभाजन किया जा सके क्यों कि हम जानते हैं कि

द्रव्य का प्रयोग कम और अधिक सभी मूल्य के विनिमय कार्यों में होता है इसलिये यह उचित है कि सबकी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये द्रव्य भी कई छोटी बड़ी इकाइओं में विभाजित करके बनाया जाय जिससे अमीर और गरीब सभी का विनिमय कार्य ठीक ठीक चल सके। यदि कोई वस्तु गलाकर, तोड़कर, या काट कर छोटे बड़े भागों में नहीं की जा सकती तो वह उपयोगी न होगी क्योंकि उससे या तो कम मूल्य का या केवल अधिक मूल्य का ही द्रव्य बनाया जा सकेगा। इसके अतिरिक्त ऐसी वस्तु का आकार भी मनुष्य अपनी रुचि, सुविधा और आवश्यकता के अनुसार न बना सकेगा। द्रव्य का आकार सुन्दर और सुडौल होना चाहिये जिससे उसका प्रयोग करने में किसी प्रकार की असुविधा न हो, साथ ही वस्तु ऐसी हो कि उसके ऊपर कोई चिह्न, फूल-पत्ती या चित्र ढाला जा सके और उसका रूप अथवा आकार ऐसा बनाया जा सके कि चालाक लोग बेईमानी से नकली द्रव्य बना कर राजा और प्रजा को धोखा न दे सकें।

मितव्ययिता

द्रव्य वस्तु के अन्य गुणों के साथ यह भी आवश्यक है कि वह वस्तु अधिक मूल्यवान न हो क्योंकि यदि हमने अधिक मूल्यवान हीरा, सोना, चाँदी जैसी वस्तुओं का द्रव्य रूप में प्रयोग किया तो इससे देश को आर्थिक हानि हो सकती है। क्योंकि द्रव्य रूप में लगातार प्रयोग होने के कारण घिसावट

या खो जाने से इन वस्तुओं का ह्रास होता रहता है। इसलिये यदि हमने ऐसी मूल्यवान वस्तुओं का प्रयोग किया तो इस प्रकार देश को प्रतिवर्ष बहुत बड़ी आर्थिक क्षति उठानी पड़ेगी। दूसरी ओर ऐसी वस्तुओं की मात्रा भी अपरिमित नहीं होती। अतः यह हो सकता है कि कुछ समय बाद बढ़ती हुई आवश्यकताओं की पूर्ति के निमित्त पर्याप्त मात्रा में वह मिल भी न सके। इसलिये यह आवश्यक है कि जो वस्तु भी द्रव्य के लिये हम चुने वह आर्थिक दृष्टि से उचित और कम व्यय वाली हो।

धातुओं की श्रेष्ठता

उपरोक्त सभी गुणों को ध्यान में रखते हुए धातुएँ द्रव्य-वस्तु का कार्य करने में सबसे श्रेष्ठ मानी गई हैं। धातुओं में भी सोना और चाँदी सर्वोत्तम द्रव्य-वस्तुऐं सिद्ध हुई हैं। हीरा और प्लेटिनम जैसी कुछ सोने से भी अधिक मूल्यवान वस्तुएँ सोना और चाँदी की प्रतियोगिता नहीं कर सकीं। इसका कारण यह है कि इनमें उपयोगिता, दुर्लभता, टिकाऊपन, सूक्ष्मता आदि गुण बहुत अधिक मात्रा में होते हुए भी इनमें कुछ बहुत ही आवश्यक गुणों का अभाव भी बहुत बड़ी मात्रा में पाया जाता है। हीरे का कोई सिक्का नहीं बन सकता, उस पर किसी प्रकार की चित्रकारी आदि प्रायः असम्भव है। बड़े हीरे के टूटने पर छोटे भागों का मूल्य उनके आकार के अनुपात में न होकर कम होता है। एक बार टूटने पर फिर उन भागों को मिलाया नहीं जा सकता। हीरे की परख साधारण व्यक्ति की सामर्थ्य के बाहर

है। इसी प्रकार प्लेटिनम को यद्यपि रूस में एक बार मुद्रा रूप में प्रयोग करने का प्रयत्न भी किया गया किन्तु बहुत अधिक तापमान पर पिघलने के कारण मुद्रा निर्माण में बहुत अधिक कठिनाई और असुविधा हुई इसलिए वह विचार अन्त में छोड़ देना पड़ा।

सोने और चाँदी के अतिरिक्त छोटे मूल्य की मुद्रा की आवश्यकता पड़ने पर अनेकों धातुओं का प्रयोग विभिन्न देशों में किया गया उनमें पीतल, सीसा, लोहा, ताँबा, टिन, निकल और अनेक प्रकार की मिश्रित धातुएँ मुख्य हैं। किन्तु धीरे धीरे लोग इस निश्चय पर पहुँच गए हैं कि उस काम के लिए ताँबा और निकिल सर्व श्रेष्ठ हैं।

द्रव्य के भेद

द्रव्य के दो रूप

राजद्रव्य-मुद्रा

राजद्रव्य-नोट

साख द्रव्य-चैक

हुण्डी, बिल आदि

परिच्छेद चार



द्रव्य के भेद

हम पहिले बतला चुके हैं कि द्रव्य रूप में प्रयोग होनेवाली वस्तुओं में समय समय पर बहुत परिवर्त्तन हुऐ और इस प्रकार द्रव्य ने मनुष्य की सुविधा के लिये आवश्यकतानुसार अनेक रूप बदले। सबसे प्रथम तरह तरह की वस्तुओं का उपयोग किया गया, तदनन्तर धातु की मुद्राओं का प्रचार आरम्भ हुआ और कालान्तर में उसके साथ नोटों का भी प्रचार प्रारम्भ हुआ। किन्तु यह सब राज्य की ओर से प्रचलित द्रव्य था इसके अतिरिक्त जन साधारण, बैंक या व्यापारिक संस्थाओं द्वारा कुछ ऐसे पत्रों का प्रचलन किया गया जिनका कि द्रव्य रूप में प्रयोग हुआ। आजकल विशेषत: थोक व्यापार में चेक और हुंडियों द्वारा हो अधिकांश भुगतान होता है। अतएव उन्हें भी द्रव्य की परिभाषा में गिन सकते

हैं। परन्तु इन चेकों और हुंडियों की मान्यता सर्व साधारण के लिये राज मुद्रा या नोटों की तरह वाध्य नहीं है इसलिये इन दो प्रकार के द्रव्य में हमें कुछ न कुछ अन्तर अवश्य मानना चाहिये। इसी तरह हम जानते हैं कि सब मुद्रायें भी एक ही प्रकार की नहीं होतीं और नोटों में भी भिन्नता पाई जाती है। इस परिच्छेद में इसी भेद को समझाने का प्रयत्न किया जायेगा।

द्रव्य के दो रूप

द्रव्य को प्रधान रूप से हम दो मुख्य भागों में बांट सकते हैं: (१) राज-द्रव्य और (२) साख-द्रव्य। राज-द्रव्य से हमारा संकेत उस द्रव्य से है जो राज्य द्वारा चलाया जाय, अर्थात् जिसे तैयार करने का अधिकार राज्य को हो और जिसकी मान्यता सब लोगों के लिये वाध्य हो। साख द्रव्य से हमारा तात्पर्य द्रव्य के रूप में प्रयोग किये जाने वाले उन साख पत्रों से है जो हमें साख के आधार पर बैंक आदि व्यापारिक संस्थाओं से मिलें, जैसे चेक अथवा हुंडी जिनका प्रयोग प्रायः बड़े २ विनिमय कार्यों में होता है। यद्यपि उनकी मान्यता वाध्य नहीं है लेकिन फिर भी लोग उन्हें स्वीकार करते हैं और एक दूसरे को ऋण चुकाने में देते हैं। यह केवल इसलिये होता है कि लोगों को एक दूसरे के प्रति और बैंकों के प्रति साख या विश्वास है। यह सत्य है कि कोई भी व्यक्ति चेक या हुंडी लेने के लिये वाध्य नहीं किया जा सकता, यदि हम चाहें तो स्वतन्त्रता पूर्वक अस्वीकार कर सकते हैं। परन्तु राज द्रव्य

के विषय में ऐसा नहीं कहा जा सकता है। जैसे यदि हमें किसी व्यक्ति को ५० रुपये देना है और यदि हम उसे राज्य द्वारा चलाया हुआ द्रव्य दें तो वह उसे लेना पड़ेगा। परन्तु यदि वह चाहे तो ५०) रु० की चेक लेने से इन्कार अवश्य कर सकता है।

राज द्रव्य-मुद्रा

राज द्रव्य भी दो प्रकार का होता है एक तो धातु की बनी मुद्रा और दूसरे कागज के नोट। यह मुद्रा भी दो प्रकार की होती हैं जैसे प्रमाणिक मुद्रा और सांकेतिक मुद्रा। प्रमाणिक मुद्रा से हमारा आशय उस मुद्रा से है जिसके द्वारा बिना किसी बाधा के हम कितना भी ऋण चुका सकें और सांकेतिक मुद्रा वह होती है जिसकी सहायता से एक निश्चित सीमा तक ही द्रव्य स्वीकार किया जा सके। जैसे यदि हमें किसी को ५०००) रु० देना हो तो यदि हम चाहें तो रुपया वाली मुद्रा देकर ऋण चुका सकते हैं और उस अमुक व्यक्तिको लेना पड़ेगा, भले ही उसे इतने रुपये गिनने में असुबिधा मालूम हो। परन्तु यदि हम यह ऋण पैसों द्वारा चुकाना चाहें तो वह ५०००) रु० के पैसे लेने से इन्कार कर सकता है। इस प्रकार प्रमाणिक मुद्राकी मान्यता असीम होती है और सांकेतिक मुद्रा की सीमित। इन दोनों प्रकार की मुद्राओं में भेद इस प्रकार है :

प्रमाणिक मुद्रा	सांकेतिक मुद्रा
१—इसका वास्तविक मूल्य और मुद्रा मूल्य बराबर होता है।	१—मुद्रा मूल्य वास्तविक मूल्य से अधिक होता है।
२—इसकी मान्यता असीमित होती है।	२—मान्यता सीमित होती है।
३—यह द्रव्य की सबसे बड़ी इकाई होती है। इसका मूल्य सांकेतिक मुद्रा के मूल्य से अधिक होता है।	३—यह प्रमाणिक मुद्रा से कम मूल्य की होती है और इसका मूल्य प्रमाणिक मुद्रा के मूल्य का कोई अंश होता है जैसे १/२ १/४ १/१०० आदि।
४—यह मुद्रा सबसे उत्तमम धातु की बनाई जाती है।	४—यह प्रायः मिलावटी या कम मूल्यकी धातु की बनती है।
५—यह देश की प्रधान मुद्रा समझी जाती है और साधारणतः सभी वस्तुओंका मूल्याङ्कन इसी के द्वारा होता है।	५—इसका प्रयोग केवल छोटे छोटे विनिमय कार्यों में होता है।

राज द्रव्य-नोट

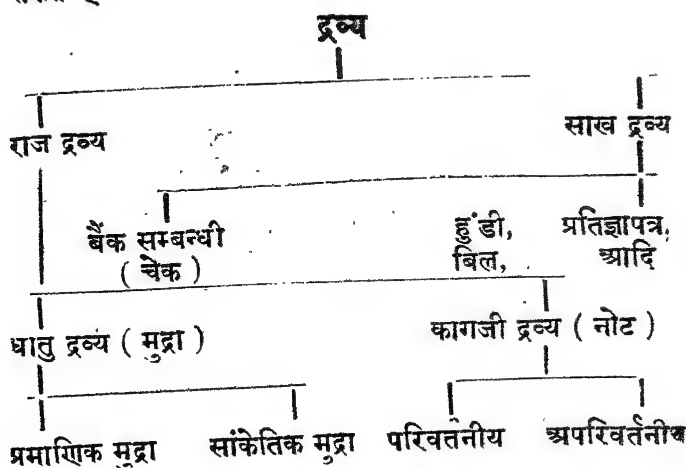
नोट भी दो प्रकार के होते हैं: (१) परिवर्तनीय और २- अपरिवर्तनीय। परिवर्तनीय नोट वह होते हैं जिनके बदले में राजकीय टकसाल से देश की प्रमाणिक मुद्रा मिल सके और

जिनके ऊपर इस आशय का राजकीय वक्तव्य छपा हो कि यदि कोई व्यक्ति उन नोटों को बदलाने के उद्देश्य से दे तो उसे बदले में नोटों के मूल्य के बराबर द्रव्य की प्रमाणिक मुद्रा दी जावेगी। इसके विपरीति यदि नोटों के साथ ऐसी सुविधा न दी गई हो तो उन्हें अपरिवर्तनीय कहते हैं। साधारण रूप से परिवर्तनीय नोट ही चलाये जाते हैं क्योंकि उनसे जनता का विश्वास बढ़ता है। अपरिवर्तनीय नोटों से यह विश्वास कम हो जाता है और जनता को राज्य की विश्वसनीयता में शंका होने लगती है। वास्तव में परिवर्तनीय नोटों के लिये आवश्यक होता है कि उनके परिवर्तन के लिये कोष खोला जाय। परन्तु युद्ध के समय जब यह सम्भव नहीं होता कि अधिक कोष सुरक्षित रखा जाय तो उस समय अपरिवर्तनीय नोट भी चला दिये जाते हैं। नोट अपरिवर्तनीय या तो प्रारम्भ से ही होते हैं अथवा बाद में परिवर्तनीय नोट अपरिवर्तनीय घोषित किये जा सकते हैं। यह परिस्थिति के ऊपर निर्भर रहता है। नोट चलाने का उद्देश्य सोना-चांदी जैसी मूल्यवान धातुओं को बचाना ही होता है। इन मुद्राओं और नोटों के विषय में हम आगे अध्यायों में विस्तार पूर्वक विचार करगें।

साख-द्रव्य

यद्यपि साख के विषय में हम आगे चलकर विस्तारपूर्वक विचार करेंगे। यहाँ प्रसंगवश यह कह देना उचित होगा कि साख द्रव्य हमें दो प्रकार का मिलता है: (१) चेक और

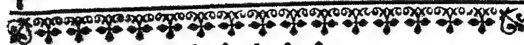
(२) हुंडी। चेक का प्रयोग सर्व साधारण द्वारा अपने लेन देन में नहीं किया जाता। इनका भुगतान केवल बैंक में हो सकता है और इसीलिये अधिकतर बड़े व्यापारिक लेन देन में ही इनका प्रयोग वे लोग करते हैं जिनका बैंक में खाता अथवा हिसाब रहता है। इसी लिये बड़े बड़े व्यापारी लोग ही हुण्डी, बिल और प्रतिज्ञा पत्र का प्रयोग करते हैं। उनके प्रयोगसे हमारा व्यापारिक विनिमय कार्य सरल हो जाता है और ऋण चुकाने में बड़ी सहायता मिलती है। इस लिये इन चेक और हुंडियों को भी हम द्रव्य की श्रेणी में सम्मिलित कर सकते हैं। द्रव्य के इन विभिन्न रूपों को नीचे दिये हुये चित्र द्वारा हम अधिक सरलता से समझ सकते हैं।







धातु-द्रव्य या मुद्रा







मुद्रा-विकास और परिभाषा
सरकारी नियंत्रण और सुधार
आदर्श मुद्रा और उसके गुण
निर्बाध मुद्रा निर्माण
सीमित मुद्रा निर्माण
निःशुल्क मुद्रा निर्माण
निर्माण या टकसाली व्यय
मुद्रा कर या सीनियरेज
हीन मुद्रा

परिच्छेद ५



धातु-द्रव्य या मुद्रा

साधारणतः हम द्रव्य को दो रूप में देखते हैं : प्रथम धातु के रूप में और द्वितीय-पत्र अथवा कागज के रूप में। इस अध्याय में हम धातु रूप में प्रयोग होनेवाले द्रव्य का वर्णन करेंगे।

मुद्रा विकास और परिभाषा

हम पहिले कह चुके हैं कि आदान प्रदान की कठिनाइयों को दूर करने के लिए एक निश्चित वस्तु को माध्यम के रूप में स्वीकार किया गया परन्तु माध्यम रूप में कार्य करनेवाली वस्तु सदैव एक ही नहीं रही। अनुभव के आधार पर सुविधानुसार लोगों ने एक को हटाकर दूसरी का प्रयोग किया। अन्त में धातुएँ सब से अधिक उत्तम सिद्ध हुईं और उन में भी, सोना और चाँदी। प्रारम्भ में इन धातुओं का प्रयोग छोटे बड़े सभी

प्रकार के टुकड़ों के रूप में होता था और प्रत्येक बार हर वस्तु के मूल्य के बराबर टुकड़े काटकर दिये जाते थे। इस प्रकार के विनिमय में दो कठिनाइयों का अनुभव हुआ। पहिली कठिनाई धातु की उत्तमता की परख के सम्बन्ध में थी और दूसरी बार-बार तोलने की। पहिली कठिनाई को दूर करने के लिए कुछ विश्वास पात्र लोग धातु के टुकड़ों को प्रमाणित करने की दृष्टि से उन टुकड़ों पर अपनी विशेष छाप लगाने लगे। यह काम केवल ऐसे ही व्यक्ति करते थे जिनकी साख बाजार में इतनी पुष्ट थी कि उनकी छाप देखकर उनके द्वारा दिए हुए उत्तमता के प्रमाण को लोग मान लेते थे। दूसरी असुविधा को भी उन्हीं विश्वास पात्र लोगों के प्रमाण द्वारा दूर किया गया और उन व्यक्तियों ने उत्तम धातु के छोटे छोटे टुकड़ों पर उत्तमता तथा तोल का प्रमाण अंकित करना प्रारम्भ कर दिया। प्रमाणित धातु के टुकड़ों को लोग बिना तोले केवल गिनकर ही स्वीकार करने लगे। धीरे धीरे क्रमशः यह टुकड़े एक विशेष आकार प्रकार और तौल के बनने लगे और इस प्रकार मुद्रा का यहीं से प्रारम्भ हुआ। मुद्रा की परिभाषा देते हुये हम कह सकते हैं कि यह विशेष आकार प्रकार की धातु के वे टुकड़े हैं जिन पर उनकी उत्तमता और तौल के प्रमाण स्वरूप छाप अंकित हो और जिनपर जन साधारण का इतना विश्वास हो कि उन टुकड़ों का प्रयोग माध्यम के रूप में समस्त विनिमय में किया जासके।

सरकारी नियन्त्रण और सुधार

धातु के साधारण टुकड़ों का स्थान यद्यपि धीरे धीरे मुद्रा ने ले लिया किन्तु फिर भी मुद्रा अभी अपनी पूरी कला को प्राप्त नहीं हुई थी। सबसे पहिला दोष मुद्रा में लगने वाली छाप का था। प्रारम्भ में सिक्के में केवल एक ओर छाप लगती थी और वह भी इस प्रकार से कि एक प्रष्ठ को भी पूरा पूरा न ढक पाती थी। ऐसे सिक्कों में से छाप को छोड़कर अन्य स्थान से धातु काट लेने की पूरी सुविधा थी। विशेष रूप से सोने जैसी मूल्यवान धातुओं का छोटा कण भी कुछ न कुछ मूल्य अवश्य रखता है इसलिये मुद्रा में से लोगों ने काट छांट करनी प्रारम्भ कर दी। इसका परिणाम यह हुआ कि प्रत्येक मुद्रा का बारबार तौलना आवश्यक हो गया। इस असुविधा को दूर करने के लिए मुद्रा में दोनों ओर छाप लगने लगी और वह दोनों पृष्ठों के पूरे आकार को ढकने लगी।

मुद्रा जब अनेक व्यक्तियों द्वारा प्रमाणित की जाती थी, तो उसमें एक कठिनाई यह थी कि अलग-अलग व्यक्ति अलग२ आकार और छाप की मुद्रा का प्रचलन करते थे। इसके कारण व्यापार में असुविधा होती थी। एक ही देश और राज्य के भीतर अनेक प्रकार की मुद्राएँ चलती थीं। सब स्थानों के लोग सभी मुद्रा प्रमाणित करने वालों से परिचित नहीं होते थे और इस कारण अनजाने व्यक्ति द्वारा प्रमाणित मुद्राको स्वीकार करने में कठिनाई होती थी। इसलिए किसी ऐसे व्यक्ति के

द्वारा मुद्रा को प्रमाणित करने की आवश्यकता हुई जिसके प्रमाण को सब लोग मानें। किसी भी व्यापारी की व्यक्तिगत साख की तुलना में राजा की साख निश्चय ही अधिक पुष्ट होती है। साथ ही मुद्रा को सर्व साधारण के द्वारा बाध्य रूप में स्वीकृत कराने की शक्ति भी राजा में अधिक होती है। इसीलिए मुद्रा का प्रचलन राजा के हाथ में आया और मुद्रा पर राजा का चित्र या अन्य कोई विशेष चिन्ह अंकित होने लगा। मुद्रा अब केवल व्यापार को सुविधाजनक बनाने का क्षणिक साधन न होकर हमारे इतिहास को बताने के लिए साधन रूप में बहुत ही मूल्यवान हो गई।

राज्य अधिकार में आने पर भी मुद्रा ने अभी पूर्णता नहीं पाई थी और धूर्त लोग अनेक प्रकार से प्रमाणित मुद्रा में से कुछ भाग इस प्रकार निकाल लेते थे कि देखकर उसका पता लगाना कठिन था। मुद्रा के किनारों में से खुरच कर थोड़ी सी धातु इस ढंग से निकाल लेते थे कि मुद्रा का आकार देखने में तनिक भी बदला हुआ न जान पड़ता था। मुद्रा को किसी घुला लेने वाले अम्ल आदि में थोड़ी देर रखने से उसमें से थोड़ी धातु इस प्रकार निकल आती थी कि सब दिशाओं से थोड़ी-थोड़ी आने के कारण मुद्रा के स्वरूप में कोई परिवर्तन दृष्टि में नही आता था। तीसरा ढग बहुत सी मुद्रा एक थैले में रखकर पटकने का था इससे इधर उधर से मुद्रा के छोटे छोटे कण टूट जाते थे और मुद्रा का रूप नही बिगड़ता था।

इस धूर्तता से बचनेके लिए मुद्रा को इस प्रकार से चित्रित किया जाता है कि घुलाने से तुरन्त ही चित्रों में अन्तर आ जाय। इसके अतिरिक्त मुद्रा के किनारों पर (रेती की जैसी) आड़ी लकीरें काट दी जाती हैं जिससे तनिक भी कुतर लेने पर पता चल जावे। आगे चलकर जब वास्तविक मूल्य से मुद्रा का द्रव्य-मूल्य अधिक हो गया तो लोगों ने जाली मुद्रा प्रचलन करने का प्रयत्न किया। इससे बचने के लिए मुद्रा को बहुत ही अधिक उलझी हुई चित्रकारी से अंकित किया गया जिससे उस प्रकार की मुद्रा बना सकना केवल बहुत अधिक कठिनाई और खर्च के द्वारा ही हो सके। इस प्रकार जाली मुद्रा बनने की सम्भा- बहुत ही कम कर दी गई। इसके अतिरिक्त राज्य ने प्रारम्भ से ही जब से मुद्रा-प्रचलन अपने हाथ में लिया बिना राज्य की आज्ञा के मुद्रा का ढालना या प्रचलित करना कानून के विरुद्ध घोषित कर दिया।

आजकल चलने वाली मुद्रा लगभग प्रत्येक स्थान पर गोल चपटी और कटे किनारों वाली है। छोटे मूल्य की मुद्रा में पहिचानने की सुविधा के लिए वर्ग, षटकोण या दाँत दार गोल आकार भी प्रयोग में आते हैं। इन मुद्राओं में कोंण नोकदार न होकर गोलाई से कटे हुए होते हैं। हमारे देश में दुअन्नी और अधन्ना वर्ग,पुराने चाल की चवन्नी षटकोण और एकन्नी दाँत दार गोल आकार की हैं। अपने यहां नए पैसे को यद्यपि

गोल आकार दिया गया है किन्तु उसमें धातु की बचत की दृष्टि से बीच में एक गोल छेद कर दिया गया है।

आदर्श मुद्रा और उसके गुण

जिस दिन से मुद्रा का प्रचलन हुआ उस दिन से आज तक लगातार मुद्रा के सभी दोष दूर करने का प्रयत्न होता रहा है। प्रत्येक सरकार ने यह प्रयत्न किया है कि वह सर्वोत्तम मुद्रा का प्रचार कर सके किन्तु इस कार्य में उन्हें कहां तक सफलता मिली है इसका निश्चय करने के लिए हमें यह देखना होगा कि मुद्रा का आदर्श रूप क्या होना चाहिए। आदर्श मुद्रा में निम्नलिखित गुण होने आवश्यक हैं :

१—मुद्रा इस प्रकार की हो कि खरे और खोटे का निर्णय सरलता से हो सके। इसके लिए टकसाल में आजकल मशीन के द्वारा मुद्रा ढाली जाती हैं और उस पर इतनी जटिल चित्रकारी की जाती है जो हाथ से बनाना प्रायः असम्भव हो और मशीन के द्वारा भी इतनी दुष्कर हो कि वैसी मशीन का प्रबन्ध करना साधारण व्यक्ति के लिए असम्भव हो।

२—मुद्रा अपनी बनावट में इतनी सुरक्षित हो कि मुद्रा से कुतर लेना, घुला लेना या कुड़क लेना रोका जा सके। इसके लिए मुद्रा के किनारे रेती की भांति धारीदार बनाए जाते हैं और मुद्रा शुद्ध धातु के स्थान पर मिश्रित धातु की बनाई जाती है जो इतनी कड़ी होती है कि उसमें से घुला लेना या कुड़क लेना बहुत ही कठिन है और यदि ऐसा किया गया तो पहिचाना जा सकता है।

३—मुद्रा में अधिक घिसांव न हो। यह बात भी कड़ी मिश्रित धातु के सिक्के बनाकर पूरी की जाती है किन्तु फिर भी कुछ न कुछ घिसाव होता ही है। इसलिए आदर्श मुद्रा वही है जिसमें जितना कम से कम घिसाव सम्भव हो उतना ही हो।

४— मुद्रा सुविधा जनक आकार की हो। बहुत छोटी मुद्रा के खो जाने का भय रहता है। साथ ही यदि मुद्रा पतली हुई तो उसको लेने देने उठाने धरने में असुविधा होती है। किन्तु मुद्रा इतनी अधिक बड़ी और मोटी भी न होनी चाहिए कि थोड़ी मुद्रा भी पास में रखने पर बोझा बन जाए। आदर्श मुद्रा इतनी बड़ी होनी चाहिए कि हाथ में सुविधा-पूर्वक पकड़ में आ सके और आंख पर बिना विशेष जोर डाले देखी जा सके और बराबर स्थान में रखने पर उसे उठाने में कोई कठिनता न हो।

५—मुद्रा देखने में आकर्षक हो और अपने युग की प्रतीक हो। मुद्रा को आकर्षक बनाने के लिए बहुत ही सिद्ध हस्त कलाकारों के द्वारा तैय्यार किए हुए चित्र और बेल बूटे अंकित किए जाते हैं। किसी महान व्यक्ति का चित्र नाम और सम्वत् आदि मुद्रा को ऐतिहासिक-महत्व देते आए हैं किन्तु राजा के अभाव में देश की किसी विशेष बात की ओर संकेत करने वाला चिह्न भी मुद्रा पर अंकित किया जाता है।

६—मुद्रा के आकार के विषय में निश्चय करते समय मुद्रा का मूल्य ध्यान में रखना आवश्यक है। नित्यप्रति के व्यवहार में अधिकांश थोड़े मूल्य का लेन देन होता है। इसलिए थोड़े मूल्य

की मुद्रा भी आवश्यक होती है। किन्तु थोड़े मूल्य की मुद्रा यदि उसी धातु की बनाई जाय जिसकी बड़ी मूल्य की मुद्रा बनती है तो आकार बहुत छोटा करना पड़ेगा। इस कठिनाई को दूर करने के लिए अधिकतर छोटे मूल्य की मुद्रा सुविधा-जनक आकार की कम मूल्य वाली धातु से तैय्यार की जाती है। कम मूल्य की मुद्रा के साथ ऐसा अनुपात होना चाहिए कि लेन देन के साथ साथ हिसाब में भी सुविधा रहे। इस दृष्टि से अमरीका का डालर और सेन्ट का १ और १०० का अनुपात दशमलव पर आधारित होने के कारण हिसाब में सबसे अधिक सुविधाजनक सिद्ध हुआ है।

निर्बाध मुद्रा निर्माण

पहिले कहा गया है कि धीरे धीरे देश में प्रचलित मुद्रा का निर्माण व्यक्तिगत व्यापारियों या साहूकारों के हाथ से सरकारी हाथों में आ गया। मुद्रा निर्माण पर सरकारी स्वत्वाधिकार हो जाने पर पहिले की प्रचलित प्रथा का ही पालन किया गया। साहूकार या व्यापारी लोग अपने पास से मुद्रा बनाकर तो प्रचलित करते ही थे साथ ही कोई भी व्यक्ति अपना सोना या चांदी ले जाकर मुद्रा बनवा सकता था। सरकार ने भी इसी परिपाटी को पकड़ा और एक निश्चित मात्रा में सोना देकर सरकारी टकसाल से मुद्रा की एक निश्चित मात्रा प्राप्त हो जाती थी। इस प्रकार के मुद्रा निर्माण को निर्बाध मुद्रा निर्माण के नाम से पुकारा जाता है।

सीमित मुद्रा निर्माण

इस प्रकार से मुद्रा का निर्माण तब तक ठीक चलता रहा जब तक मुद्रा की धातु का मूल्य उतना ही था जितना कि मुद्रा का मूल्य था। किन्तु जब सरकार ने मुद्रा का मूल्य उसकी धातु के मूल्य से अधिक कर दिया तो निर्बाध मुद्रा निर्माण की योजना न चल सकी। इसका कारण यह था कि ऐसा करने से कम मूल्य की मुद्रा तैय्यार होती और इसलिए व्यक्तिगत लोगों को अकारण लाभ होता। इस अनायास लाभ प्राप्त करने के लालच में लोग इतनी अधिक मुद्रा बनवाते कि देश में मुद्रा की मात्रा बहुत अधिक हो जाती और दूसरी अनेक समस्याएं उठ खड़ी होतीं। मुद्रा की मात्रा पर सरकारी नियन्त्रण रखना सम्भव नहीं था क्योंकि लोग मुद्रा का निर्माण अपनी व्यक्तिगत सुविधानुसार कराते थे न कि सरकारी आवश्यकताओं के अनुसार। इसके अतिरिक्त कुछ दिनों के निर्बाध मुद्रा निर्माण के अनुभव से सरकार इस निर्णय पर पहुँची कि निर्बाध मुद्रा निर्माण आवश्यक नहीं है। इसका कारण यह था कि यद्यपि टकसालमें धातु की एक निश्चित मात्रा देकर मुद्रा बनवाई जा सकती थी किन्तु उसके लिए कुछ समय रुकना पड़ता था। इस झंझट से बचने के लिए लोग धातु देकर टकसाल में मुद्रा बनवाने के स्थान पर धातु से मुद्रा बदलना अधिक पसन्द करते थे। यद्यपि इसके कारण उन्हें कुछ कम मुद्रा मिल पाती थी। इसका सबसे प्रसिद्ध उदाहरण इंगलैंड के मुद्रा इतिहास में मिलता है। सन १९१४ के महायुद्ध

तक इंगलैंड में एक आउंस सोना टकसाल में देने पर उसके बदले ३ पौंड १७ शिलिंग और १०½ पेन्स मिलता था इसी लिए बैंक आफ इंगलैंड ने यह प्रबन्ध कर रखा था कि वहां तुरन्त ही सोना देकर मुद्रा मिल सकती थी। इस सेवा के लिए प्रति आउंस सोने पर बैंक १½ पेन्स लेता और इस प्रकार एक आउन्स के बदले केवल ३ पौंड १५ शिलिंग और ६ पेन्स ही मिलता था। कम मिलने पर भी अधिकतर लोग टकसाल न जाकर बैंक आफ इंगलैंड ही जाते थे। इन्हीं सब कारणों से सरकार ने निर्वाध मुद्रा निर्माण को बन्द कर दिया और केवल सरकारी तौर पर ही मुद्रा का निर्माण होने लगा। इस प्रकार के मुद्रा निर्माण को सीमित मुद्रा निर्माण के नाम से पुकारा जाता है।

निःशुल्क मुद्रा निर्माण

मुद्रा निर्माण चाहे सरकारी तौर पर हो चाहे व्यक्तिगत, उस में कुछ खर्च अवश्य पड़ता है। परन्तु कुछ सरकारें अपनी जनता को सुविधा देने के लिए तथा मुद्रा का वही मूल्य रखने के लिए जो कि उसकी धातु का मूल्य हो मुद्रा निर्माण का सारा खर्च स्वयं अपने ऊपर ले लेती हैं। इस प्रकार बिना कुछ खर्च किए धातु से मुद्रा का निर्माण करा लेने को निःशुल्क मुद्रा निर्माण कहते हैं।

निर्माण-व्यय या टकसाली-व्यय

मुद्रा निर्माण में कुछ व्यय होता है। कभी कभी सरकार उतना ही लेती है जितना कि वास्तव में व्यय होता

है तो उस व्यय को टकसाली या निर्माण व्यय के नाम से पुकारते हैं।

मुद्रा कर या सीनियरेज

कभी कभी सरकार मुद्रा निर्माण में जितना व्यय होता है उससे अधिक मुद्रा बनवाने वालों से ले लेती है। ऐसा इसलिए सम्भव है कि सरकार का मुद्रा निर्माण पर एकाधिकार होता है। इस प्रकार लिए हुए धन को मुद्रा-कर कहा जा सकता है। इंगलैंड में पुराने समय में यह अतिरिक्त धन इसलिए लिया जाता था कि राजा मुद्रा निर्माण की अनुमति देता था। लैटिन भाषा में इसे (Signeur) सीनियर कहते थे और इसीलिए इस प्रकार लिए हुए धन को सीनियरेज (Signeurage) के नाम से पुकारने लगे।

निर्माण व्यय और मुद्रा कर दो प्रकार से लिया जा सकता है: एक तो धातु के साथ बनवाई अलग से लेकर और दूसरे उसी धातु से कुछ निकालकर कम मूल्य की धातु उसके बदले दे कर। जहां मुद्रा निर्माण निर्बाध रूप में नहीं होता वहां भी सरकार इस प्रकार का व्यय निकाल लेती है। अधिकतर धातु की मात्रा को जितना बाजार में मूल्य होता है उतनी धातु से अधिक मूल्य की मुद्रा निर्माण करके सरकार की ओर से चलाई जाती है। इस प्रकार से होने वाले लाभ में निर्माण व्यय और मुद्राकर दोनों सम्मिलित रहते हैं।

हीन मुद्रा

कभी कभी मुद्रामें मूल्यवान धातु की मात्रा सरकारी आदेश पर कम कर दी जाती है और प्रत्येक मुद्रा पहिले की मुद्रा की तुलना में हीन हो जाती है। धातु की मात्रा में कमी न करके यह भी हो सकता है कि उसी मुद्रा का विनिमय मूल्य अधिक बढ़ा दिया जावे। पहिले वाला ढंग अधिक सुगम होने के कारण अधिक प्रचलित रहा है। सरकार को ऐसा करने की आवश्यकता दो कारणों से होती है। पहिला कारण धातु की कमी है। धातु की कमी के कारण उतनी ही धातु से अधिक मुद्रा बनाने के लिए सरकार प्रत्येक मुद्रा में धातु की मात्रा कम कर देती है। दूसरा कारण मुद्रा का निर्यात् रोकने की आवश्यकता है। कभी कभी विदेशों में धातु का मूल्य इतना अधिक बढ़ जाता है कि अपने देश में प्रचलित मुद्रा के विनिमय मूल्य से विदेश में मुद्रा की धातु का मूल्य अधिक मिलता है। इसलिए लोग मुद्रा का निर्यात् करके लाभ उठाने लगते हैं। इस निर्यात् को रोकने के लिए सरकार को या तो मुद्रा का विनिमय मूल्य वही रखकर उसकी मूल्यवान धातु की मात्रा में कमी करनी पड़ती है अथवा सरकारी आज्ञा से मुद्रा का विनिमय मूल्य बढ़ा दिया जाता है। तीसरा कारण और भी है सरकार को अतिरिक्त

कर की आवश्यकता होती है। जनता के ऊपर कर लगाना उचित न देख कर सरकार इस ढंग से अतिरिक्त धन प्राप्त कर लेती हैं। परन्तु इस प्रकार मुद्रा की धातु की मात्रा में कमी करके प्राप्त किया हुआ लाभ भी एक प्रकार का अप्रत्यक्ष कर ही है।



पत्र-द्रव्य या नोट



पत्र रूप में द्रव्य का प्रारम्भ

नोटों के भेद :

- प्रतिनिधि कागजी द्रव्य
- परिवर्तनीय कागजी द्रव्य
- अपरिवर्तनीय कागजी द्रव्य

नोटों के लाभ :

१—गिनने और परखने की सुविधा

२—ले जाने की सुविधा

३—नोट अधिक सुरक्षित हैं

४—मितव्ययिता और उपयोगिता

५—आवश्यकतानुसार वृद्धि और कम

कागजी द्रव्य के दोष

नोटों का प्रचार

परिच्छेद ६



पत्र-द्रव्य या नोट

पिछले अध्याय में हमने धातु द्रव्य या मुद्रा के विषय में अध्ययन किया। इसके पूर्व हम लिख चुके हैं कि जो वस्तु भी द्रव्य रूप में प्रयोग की जाय वह आर्थिक दृष्टि से अधिक व्ययशाली न होनी चाहिए। हमें ज्ञात है कि धातुओं की मात्रा सीमित है और साथ ही वह बहुमूल्य भी हैं। अतः धीरे धीरे धातु मुद्रा के अतिरिक्त पत्र द्रव्य अथवा नोटों का प्रयोग किया गया। इस परिच्छेद में हम इन नोटों के ही विषय में विवेचन करेंगे।

पत्ररूप में द्रव्य का प्रारम्भ

लोग अपनी वस्तु या सेवा के बदले द्रव्य इसलिए स्वीकार नहीं करते हैं कि द्रव्य अपने स्थूल रूप में उनके लिए उपयोगी होगा वरन इसलिए कि उसके बदले अन्य लोगों से आवश्यक वस्तु या सेवा प्राप्त हो सकेगी। जब धातुओं की मुद्रा का व्यवहार

विनिमय के साधन रूप में होता था तो एक बहुत बड़ी अड़चन थी। यदि बहुत बड़ी मात्रा में मुद्रा लेना देना पड़ता था तो बार बार गिनने और परखने की झंझट उठानी पड़ती थी। साथ ही अधिक मात्रा में मुद्रा को एक स्थान से दूसरे स्थान तक ले जाना भी बोझा ढोने के ही बराबर था। इन कठिनाइयों से बचने के लिए लोगों ने मुद्रा को लेन देन से हटाकर इसके स्थान पर उसके प्रतिनिधि स्वरूप कागजी द्रव्य का प्रयोग करना आरम्भ कर दिया। किसी ऐसे व्यक्ति के यहां मुद्रा जमा कर दी जाती थी जिसका विश्वास सभी लोग मानते थे और वह इस जमा की हुई मुद्रा का प्रमाण पत्र जमा करने वाले को दे देता था। इस प्रमाण पत्र पर मुद्रा की मात्रा और यह प्रतिज्ञा अंकित रहती थी कि प्रमाण-पत्र के बदले में किसी भी समय इस पर अंकित मात्रा की मुद्रा प्राप्त की जा सकती थी। प्रत्येक व्यक्ति मुद्रा के स्थान पर ऐसा प्रमाण पत्र स्वीकार करने को तैयार रहता था क्योंकि उसके लिए विनिमय के साधन रूप में इसका उतना ही मूल्य था जितना कि स्वयं मुद्रा का। इस प्रकार आजकल के प्रचलित कागजी द्रव्य या नोटों का जन्म हुआ।

यद्यपि प्रायः सभी स्थानों पर नोटों की सर्वप्रियता का कारण उनके द्वारा प्राप्त सुविधा ही थी किन्तु अभी तक निश्चयपूर्वक यह कह सकना कठिन है कि कब और किसने सबसे पहिले द्रव्य के इस सुगम तथा सुविधाजनक रूप का प्रारम्भ किया। जहां तक ऐतिहासिक खोज का सम्बन्ध है नोटों के विषय में सब

से पहिला लिखित प्रमाण चीन देश में मिलता है। ईसा की ६वीं शताब्दी में सबसे पहिले चीन के एक राजा ने लोगों का सोना और धातु अपने यहां जमा किया और उसके बदले में प्रमाण पत्र दिए थे जो आगे चलकर विनिमय के कार्य में सुविधाजनक होने के कारण बड़े ही जन प्रिय हो गए। कुछ लोगों के मतानुसार बहुत पुराने समय में एसीरिया और बैबिलन में नोटों के चलने के प्रमाण मिलते हैं। उसके पश्चात इटली में नोटों के प्रयोग का उल्लेख मिलता है। यद्यपि इटली में नोटों का प्रचार चीन के बहुत बाद की घटना है किन्तु यह निस्सन्देह रूप से नहीं कहा जा-सकता कि इटली वालों ने चीन के प्रयोग से प्रभावित होकर नोटों का प्रचलन किया था। इटली में यह प्रथा सरकारी प्रभाव से मुक्त व्यापारियों के द्वारा विकसित हुई। इस प्रणाली को इंगलैंड तथा योरोपीय देशों में प्रारम्भ करने का श्रेय भी व्यापारियों को ही प्राप्त है।

नोटों के भेद

प्रतिनिधि कागजी द्रव्य

ऊपर कहा गया है कि नोटों का चलन सबसे पहिले द्रव्य के प्रतिनिधि स्वरूप प्रमाणपत्रों की भांति हुआ। जितने द्रव्य के प्रतिनिधि स्वरूप नोट प्रचलित किए जाते हैं उतने ही मूल्य की मुद्रा उसके बदले सुरक्षित रख दी जाती है और किसी भी समय नोट से बदली जा सकती है। इस प्रकार के नोटों पर लोगों का बहुत अधिक विश्वास रहता है क्योंकि

यदि एक रुपये का नोट प्रचलित किया गया तो उसके बदले एक रुपया मुद्रा रूप में रख लेना आवश्यक होता है। इसके अतिरिक्त अत्यधिक मात्रा में नोटों के प्रचलित हो जाने का भी भय इस प्रकार के नोटों में नहीं रहता क्योंकि जितनी मुद्रा होगी उतने ही मूल्य के नोट प्रचलित किए जा सकते हैं। इस प्रकार के नोटों के प्रचलित करने का उद्देश्य मुद्रा प्रयोग की कठिनाइयों से मुक्ति पाना ही है। साथ ही मुद्रा के एक हाथ से दूसरे में आने जाने से जो घिसने के कारण धातु की हानि होगी उसकी बचत हो जाती है।

परिवर्तनीय कागजी द्रव्य

इस प्रकार के नोट वास्तव में बिलकुल प्रतिनिधि कागजी द्रव्य की ही भांति होते हैं। जिस प्रकार प्रतिनिधि कागजी द्रव्य वाले नोटों के बदले किसी समय मुद्रा प्राप्त की जा सकती उसी भांति परिवर्तनीय नोटों के बदले भी मुद्रा मिल सकती है। इतना होते हुए भी ये नोट मुद्रा के प्रतिनिधि नहीं होते। प्रत्येक रुपए के नोट के लिए एक रुपया मुद्रा रूप में सुरक्षित नहीं रखा जाता है। ये नोट इस सिद्धान्त पर चलाए जाते हैं कि सब लोग एक साथ अपने नोट मुद्रा से बदलने के लिए नहीं लाते हैं। इसलिए नोटो के लिए पूरी मात्रा में मुद्रा न रखकर उतनी ही मुद्रा रखी जाती है जिससे बदलने के लिए आने वाले सम्भावित नोटों के लिए मुद्रा देने में कोई कठिनाई न हो। इस प्रकार परिवर्तनीय नोट जनसाधारण में प्रायः उतना ही

विश्वास स्थापित कर देते हैं जितना कि प्रतिनिधि कागजी द्रव्य के द्वारा होता है। परन्तु उससे एक अधिक लाभ यह होता है कि धातु की और भी अधिक बचत हो जाती है। परन्तु थोड़ी मुद्रा के बल पर अधिक नोट प्रचलित कर सकने की शक्ति उपयोगी होने के साथ ही भय से खाली नहीं है। क्योंकि इस प्रकार आवश्यकता से अधिक मात्रा में नोटों के प्रचलित हो जाने की आशंका रहती है

अपरिवर्तनीय कागजी द्रव्य

तीसरे प्रकार के नोट अपरिवर्तनीय कागजी द्रव्य की कोटि में आते हैं। ये किसी भी वस्तु के प्रतिनिधि नहीं होते हैं। इनके बदले मुद्रा की भी मात्रा सुरक्षित नहीं रखी जाती है। इसी कारण इनको मुद्रा रूप में बदलने की सुविधा नहीं प्राप्त होती है। यह नोट केवल सरकारी आज्ञा के बल पर प्रचलित होते हैं इसलिए इन्हें आदेश द्रव्य भी कहते हैं।

नोटों के प्रयोग से लाभ

१— गिनने और परखने की सुविधा

जिस समय अधिक मुद्रा का लेन देन होता है उस समय प्रत्येक मुद्रा को परखने और कुल मुद्राको गिनने में व्यर्थ का परिश्रम करना पड़ता है और समय की भी हानि होती है । परन्तु उसके स्थान पर उतने ही के मूल्य के नोट देने पर उनके परखने और गिनने में केवल नाममात्र का समय और परिश्रम लगता है। नोटों की सहायता से बड़ी बड़ी मात्रा के लेन

देन बहुत कम समय में और सुविधापूर्वक हो जाते हैं।

२—ले जाने की सुविधा

आजकल नोटों के प्रयोग के कारण द्रव्य की बहुत बड़ी मात्रा एक स्थान से दूसरे स्थान ले जाने में कोई असुविधा नहीं होती है। जब नोटों का चलन नहीं था तो हजार दो हजार रुपया एक आदमी के ले जाने का बोझ हो जाता था और इससे अधिक के लिए तो खच्चरों तथा ऊंटो का प्रयोग आवश्यक था। किन्तु नोटों के प्रयोग के कारण लाखों रुपया एक स्थान से दूसरे स्थान बड़ी सरलता से आता जाता रहता है।

३—नोट अधिक सुरक्षित हैं

सुविधा के साथ ही साथ नोटों को एक स्थान से दूसरे स्थान ले जाने में द्रव्य सुरक्षित रहता है। साथ ही ले जाने वाले की जान भी पहिले से अधिक सुरक्षित रहती है। मुद्रा रूप में अधिक मात्रा में द्रव्य को छिपा सकना प्रायः असम्भव है। इस प्रकार अपहरण के प्रयास में दुष्ट लोग द्रव्य ले जाने वाले के जीवन के भी ग्राहक बन सकते हैं। मुद्रा रूप में अधिक द्रव्य लेकर चलने वाले को दुष्ट लोग दूर से पहिचान लेते हैं। परन्तु नोटों के रूप में लाखों रुपया साथ लेकर चलने वाले को ऊपर से देखकर यह नहीं कहा जा सकता कि उसके पास रुपया है या नहीं। अगर किसी प्रकार नोट चोरी चले भी जावें तो यदि उनके नम्बर मालूम हैं तो उन नम्बर के नोटों को चलाने वाला पकड़ा जा सकता है।

४—मितव्ययता और उपयोगिता

नोटों के प्रयोग से अनेक प्रकार के खर्च की कमी होती है। एक महत्व पूर्ण बचत तो देश में चलने वाले द्रव्य के निर्माण में ही होती है। धातु की मुद्रा बनाने में जितना व्यय होता है। उसकी तुलना में कागज के नोट छापने में बहुत कम खर्च होता है।

आजकल के बढ़ते हुए उत्पादन और उसके फलस्वरूप बढ़ते हुए व्यापार तथा वाणिज्य के लिए अधिक द्रव्य की आवश्यकता होती है। यदि देश में प्रचलित सभी द्रव्य धातु की मुद्रा रूप में हो तो मूल्यवान धातु की मांग बहुत अधिक बढ़ जायगा। मांग अधिक बढ़ने से उसका उत्पादन बढ़ाने का भी प्रयत्न किया जायगा। इस प्रकार जो पूंजी और श्रम जनसाधारण के लिए उपयोगी वस्तुओं के उत्पादन में लग सकता था वह धातु के उत्पादन, सफाई और मुद्रा ढालने आदि के कामों में लग जाता है। कागज के नोटों ने मुद्रा का स्थान लेकर धातु उत्पादन आदि कार्यों से पूंजी तथा श्रम को मुक्त कर दिया ह जिससे अब वह अधिक उपयोगी ढंगपर प्रयुक्त हो सकता है।

धातु के स्थान पर कागज का प्रयोग करने से धातु की एक प्रकार से और बचत होती है। धातु की मुद्रा एक हाथ से दूसरे हाथ में जाने से घिसती है। कागज के नोटों का प्रयोग होने से मुद्रा के घिसाव के कारण होने वाली हानि नहीं होती है।

५—आवश्यकतानुसार वृद्धि और कमी

धातु द्रव्य की तुलना में कागजी द्रव्य की वृद्धि और व बहुत ही सरलता से की जा सकती है। इसके कारण पहि लाभ तो देश के व्यापार को होता है, यदि द्रव्य की मात्रा व्याप की आवश्यकताओं से कम होती है तो व्यापार और उद्योग उन्नति में बाधा पड़ती है इसके विपरीत यदि मात्रा अत्याधि हुई तो वस्तुओं के दाम अनावश्यक रूपसे बढ़ते हैं जिसके कार उपभोक्ताओं को कष्ट होता है।कागजी द्रव्य प्रयोग से द्रव्य व मात्रा व्यापार की आवश्यकतानुसार उचित परिमाण में रख जा सकती है जिससे कि व्यापार और उद्योगों को पनपने व अवसर प्राप्त होता है।

कागजी द्रव्य की इस लचनशीलता का लाभ कठिनाई पड़ पर सरकारें भी उठाती हैं। युद्ध आदि के समय जब राजक लगाकर उचित मात्रा में द्रव्य एकत्रित कर सकना बहुत कठि हो जाता है तो सरकार कागजी नोटों को छाप कर अपन आर्थिक कठिनाई से मुक्ति पाती है। यद्यपि इस प्रकार सीम के बाहर नोट प्रचलित करने से अनेक दूसरी कठिन समस्याएं उठ खड़ी होती हैं किन्तु ऐसे संकट काल में पहिली आव श्यकता संकट टालने की होती है।

कागजी द्रव्य के दोष

सरकार द्वारा निर्धारित मूल्यके अतिरिक्त मुद्रा का एक अन्य मूल्य भी होता है जिस पर वह बिना सरकारी छाप के लोगों को

मान्य हो सकती हैं। परन्तु कागज के नोटों का मूल्य केवल एक है, वह जो सरकार की ओर से उस पर छापा जाता है। यदि उस पर सरकारी छाप न लगी हो तो कागज के रूप में उसका मूल्य प्रायः नहीं के बराबर होगा। जो नोट प्रचलित हैं यदि उनकी मान्यता सरकार की ओर से हटा ली जावे तो उनका उपयोग सिवाय पुड़िया बाँधने के और कुछ भी न हो सकेगा। इस प्रकार कागजी द्रव्य का मूल्य बड़ा ही अनिश्चित होता है। लोग उसे केवल सरकारी विश्वास पर द्रव्य के रूप में स्वीकार करने को तैयार होते हैं। सरकार में यदि जनता का विश्वास तनिक भी क्षीण हुआ तो देश के प्रचलित द्रव्य में भी लोगों का विश्वास उतना ही क्षीण हो जाता है। इसके अतिरिक्त किसी सरकार के द्वारा प्रचलित नोट भी केवल देश की सीमा के भीतर ही मूल्य रखते हैं। मुद्रा का सरकारी स्वीकृति के अतिरिक्त स्वयं अपने स्थूल रूप में मूल्य होने के कारण उसे देश विदेश सभी स्थानों पर लोग अधिक या कम मूल्य पर स्वीकार कर लेते हैं। परन्तु नोट का स्थूल रूप में कोई मूल्य नहीं और विदेश का व्यक्ति दूसरे देश की सरकार पर विश्वास करने को वाध्य नहीं, इस कारण नोटों का कार्य-क्षेत्र देश की सीमा के भीतर ही रहता है। इसलिए कभी कभी नोटों को राष्ट्रीय और मुद्रा को अन्तर्राष्ट्रीय द्रव्य भी कहा जाता है।

दूसरा दोष कागजी द्रव्य में यह बतलाया जाता है कि

प्राय: यह अत्याधिक मात्रा में प्रचलित कर दिया जाता है।

द्रव्य का मूल्य द्रव्य की मात्रा पर निर्भर करता है। देश में द्रव्य की मात्रा अधिक बढ़ने पर उसका मूल्य उसी अनुपात में कम हो जाता है। वस्तुओं के दाम बहुत अधिक बढ़ जाते हैं और साधारण जनता को अनेक प्रकार से आर्थिक कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है।

नोटों का प्रचार

नोटों का प्रचार सरकार, एक बैंक या अनेक बैंकों द्वारा हो सकता है। इन विभिन्न प्रकार से नोटों के चालू करने में क्या सुविधायें या असुविधायें होती हैं उनका विवेचन अब हम करेंगे।

सरकार या बैंक द्वारा नोट प्रचार?

नोटों का एक बहुत ही महत्व पूर्ण गुण उनकी लचनशीलता है। जिस समय देश में उद्योग तथा व्यापार में चहल पहल के कारण अधिक द्रव्य की आवश्यकता हो उस समय नोट प्रचलन के द्वारा अधिक द्रव्य की मांग को पूरा किया जाता है। इस वर्धनशीलता की दृष्टि से यह कहा जा सकता है कि यदि बैंक के हाथ में नोट प्रचलन का कार्य सौंप दिया जाय तो नोटों के इस गुण का उचित उपयोग हो सकता है। नित्य प्रति व्यापार तथा उद्योग के सम्पर्क में रहने के कारण इन क्षेत्रों की बढ़ती हुई मांग को जानने का जितना अवसर बैंक को रहता है उतना सरकार को नहीं रहता। इसलिए द्रव्य की वृद्धि सम्बन्धी निश्चय को

कार्य रूप में अधिक से अधिक व्यापक बनाने का जितना अवसर बैंक को होता है, उद्योग, व्यापार और बाजार से दूर रहने वाली सरकार को उतना नहीं रहता। इस सम्बन्ध में एक बात और ध्यान में रखने की यह है कि व्यापारिक कार्यों में लगे हुए बैंक के लोगों को निर्णय करने और उसे क्रियात्मक रूप देने में समय नहीं लगता है।

सरकार द्वारा नोट प्रचलन होने से इस बात का डर है कि जब देश में वास्तविक आवश्यकता हो तब पर्याप्त मात्रा में नोट प्रचलित न हों और दूसरे अवसर पर अत्याधिक नोट प्रचलित हो जावें। इसका कारण यह है कि सरकार को प्रायः आर्थिक संकट का सामना करना पड़ता है और आर्थिक संकट पड़ने पर नोट प्रचलित कर देना संकट टालने का बड़ा ही सरल उपाय है। इसके अतिरिक्त सरकारें आजकल प्रायः दलबन्दी के दलदल में फंसी हुई हैं। प्रत्येक राजनैतिक दल सरकारी शक्ति पाने पर इस प्रकार से द्रव्य की मात्रा को घढ़ा या घटा सकता है कि जिससे ऐसे कार्य किए जा सकें जिनका प्रचारात्मक मूल्य हो—वास्तविक हित हो चाहें न हो।

दलबन्दी की खींचातानी में नोट प्रचलन का जो वास्तविक कार्य उद्योग तथा व्यापार के लिये सहायक होने का है वह पीछे पड़ जाता है और राजनैतिक परिस्थियों के आधार पर उसका नियंत्रण होने लगता है।

इसके बाद भी यदि हम यह विश्वास कर लें कि सरकार निष्पक्षता के साथ जन हित को द्रष्टि में रखकर ही सब काम करेगी तो भी स्थिति संतोष जनक नहीं दिखाई देती। सरकार को चलाने वाले व्यक्ति राजनैतिक आधार पर चुने हुए लोग होते हैं। राजकर्मचारियों का चुनाव भी उनकी व्यवस्था और राजकीय सम्बन्धी योग्यता के ही आधार पर होता है। अतः उनमें नोट प्रचलन के लिए आवश्यक व्यापारिक तथा बैंक व्यवसाय सम्बन्धी ज्ञान की आशा करना व्यर्थ है।" इसलिए नोट प्रचलन का कार्य सरकार की तुलना में बैंक द्वारा होना ही अधिक सन्तोषजनक रहेगा।

सरकार के पक्ष में कही जाने वाली सबसे पहिली बात विश्वसनीयता की है। जन साधारण का जितना विश्वास सरकार के स्थायी होने के विषय में है उतना देश की अन्य किसी संस्था के विषय में नहीं हो सकता। आर्थिक द्रष्टि से सरकार की साख अन्य सभी संस्थाओं की साख से बढ़कर होती है। किसी भी व्यक्ति अथवा संस्था की साख उसकी वास्तविक सम्पत्ति पर निर्भर होती हैं क्योंकि सभी जानते हैं कि स्वेच्छा अथवा बाध्य रूप से अपने दायित्वों को पूरा करने की शक्ति सम्पत्ति की मात्रा तक सीमित होती है। जितनी ही अधिक सम्पति होगी उतना ही उस व्यक्ति अथवा संस्था के व्यवहारी अपने धन को सुरक्षित समझेंगे। राज्य के चिरस्थायित्व पर लोगों को पूर्ण विश्वास रहता है और प्रतिज्ञा पूर्ति

की शक्ति में तो कोई उसकी तुलना ही नहीं कर सकता है। कोई अन्य व्यक्ति या संस्था केवल अपनी सम्पत्ति के आधार पर प्रतिज्ञा करता है किन्तु सरकार की प्रतिज्ञा का आधार देश की सारी सम्पत्ति होती है।

दूसरी बात सरकार के पक्ष में यह है कि सार्वजनिक आधार पर होने वाले लाभ को लेने का अधिकार किसी एक व्यक्ति अथवा इने गिने व्यक्तियों को नहीं हो सकता। सार्वजनिक लाभ को लेने का अधिकार केवल सरकार को है। नोट प्रचलन एक ऐसा कार्य है जिसमें लाभ होता है और वह इस कारण कि जनता नोट स्वीकार करने को तैयार रहती है। इस प्रकार सर्वसाधारण के कारण होने वाला लाभ बैंक को मिलने पर बैंक के थोड़े से भागीदारों में बट जाता है जबकि उस पर अधिकार सर्वसाधारण का होता है। वही लाभ सरकार के हाथ पहुँचने पर सर्वसाधारण के हित में लगता है और इस प्रकार वास्तविक अधिकारी को अपना भाग मिल जाता है। इसलिए न्याय तथा औचित्य की द्रष्टि से सरकार का पक्ष भारी है।

सरकार के पास कानून बनाने की शक्ति होने के कारण आवश्यकता पड़ने पर नोटों की बृद्धि आदि के सम्बन्ध में कानून बनाने की जो सुविधा सरकार को है वह बैंक को नहीं है। इसके साथ ही सरकार का संगठन बैंक के संगठन से अधिक विस्तृत और व्यापक होता है। देश के प्रत्येक कोने

तक की बात जानने और वहाँ तक आदेश पहुँचाने की जो सुविधा सरकार को है वह बैंक को नहीं है।

इतना सब होते हुए भी अधिकतर देशों में नोट प्रचलन का अधिकार बैंक को दे दिया गया है। सरकार ने अपना सारा धन केन्द्रीय बैंक में जमा करके और बैंक का दायित्व अपने ऊपर लेकर बैंक की विश्वसनीयता और साख प्रायः उतनी ही कर दी है जितनी कि सरकार की होती है। लाभ के उचित बितरण का प्रश्न हलकर लिया गया है। बैंक के भागीदारों को उनकी पूंजी पर लाभ की एक निश्चित मात्रा दी जाती है और उससे अधिक जितना लाभ होता है वह सब सरकार के पास सार्वजनिक कोष में चला जाता है।

इसके अतिरिक्त बैंक का सरकार के अर्थ विभाग से सीधा सम्बन्ध रहता है और आवश्यकता होने पर नए कानून बनने में भी कोई अधिक विलम्ब नहीं होता है। यही कारण है कि प्रायः सभी देशों में नोटों का काम केन्द्रीय बैंको को सौंप दिया गया है। अधिकतर यह बैंक भागीदारों के बैंक हैं परन्तु समाजवाद के बढ़ते हुए प्रचार के कारण कुछ स्थानों पर केन्द्रीय बैंकों का राष्ट्रीयकरण होरहा है।

एक अथवा अनेक बैंकों द्वारा नोट प्रचार ?

यदि नोट प्रचलन का निर्णय बैंक के पक्ष में है तो अब सोचना है कि यह कार्य केवल एक बैंक को एकाधिकार के रूप में दे दिया जाय अथवा अनेक बैंको को नोट प्रचलन की स्वतंत्रता दी जाय ?

यदि अनेक बैंकों को यह कार्य सौंप दिया जाय तो सबसे बड़ा भय अत्याधिक नोट प्रचलन का हो सकता है।

अधिक से अधिक लाभ कमाने के लिए प्रत्येक बैंक अधिक से अधिक संख्या में नोट चालू करने का प्रयत्न करेगा इस प्रकार सम्भव है कि देश में उद्योग तथा व्यापार की आवश्यकताओं के अनुपात में इतने अधिक नोट प्रचलित हो जावें कि द्रव्य स्फीति की अवस्था उत्पन्न हो जाय।

नोटों का परिवर्तन करने के लिए कम से कम कुछ अंश धातु द्रव्य के रूप में अवश्य तैयार रखना पड़ता है। प्रत्येक बैंक अधिक से अधिक धन पूंजी रूप में लगाने की इच्छा से इस तैयार द्रव्य की मात्रा कम कर देगा। सम्भव है कि यह मात्रा घटकर इतनी कम हो जाय कि आकस्मिक मांग उठ खड़ी होने पर उसकी पूर्ति न हो सके। इस प्रकार विश्वसनीयता में अन्तर पड़ते ही संकट उपस्थित हो सकता है।

विभिन्न बैंकों की साख सम्पत्ति और विस्तार तथा आकार के आधार पर कम या अधिक होती है। इस कारण कुछ बैंकों के नोट अधिक सरलता से स्वीकार किए जावेंगे और कुछ के कम। द्रव्य का सबसे बड़ा गुण उसका सभी के हाथ समान रूप से ग्राह्य होने का है। इस गुण में गड़-बड़ होने से नोटों के मूल्य में हीनता आ जाती है। यही नहीं बैंकों के सम्बन्ध में यह भी देखा जाता है कि वे अपने स्थान पर या किसी विशेष क्षेत्र में अधिक जनप्रिय होते हैं। इसका परिणाम यह होगा

कि विभिन्न स्थानों पर एक ही बैंक के नोटों की जनप्रियता में अन्तर होगा। इससे लोगों को कष्ट होने के साथ ही ऐसी परिस्थिति उत्पन्न हो सकती है जो उद्योग तथा व्यापार के लिए बहुत ही बाधक तथा अहितकर सिद्ध हो।

अनेक बैंकों के कार्य में सामंजस्य न होने के कारण अत्याधिक द्रव्य प्रसार का भय तो है ही, साथ ही सरकार को नियन्त्रण में बड़ी असुविधा होगी। एक बैंक को यह काम देने से सरकार को नियन्त्रण में सुविधा रहेगी। प्रतियोगिता न होने के कारण और नोट प्रचलन का सम्पूर्ण लाभ अपने को ही मिलने का विश्वास होने से एक बैंक अत्याधिक नोट प्रचलन न होने देगा। नोट प्रचलन का एकाधिकार देश के केन्द्रीय बैंक को होता है और केन्द्रीय बैंक की साख और विश्वसनीयता सन्देह रहित होती है। इस कारण नोटों के सम्बन्ध में जन साधारण में पूर्ण विश्वास होगा। एक ही आकार प्रकार और रंग रूप के नोट प्रचलित होंगे जिससे उनके पहिचानने में सुविधा रहेगी और सब स्थानों पर एक ही प्रकार से ग्राह्य होने के कारण सुविधा और सरलता के साथ साथ उद्योग और व्यापार के सफल संचालन में सहायक होंगे। इसी कारण अनेक बैंकों की अपनी अपनी खींचातानी की तुलना में एक बैंक का सुनिश्चित और संगठित कार्य सर्वदा श्रेष्ठ होता है।



परिच्छेद सात



नोट प्रचलन-सिद्धान्त और प्रणालियां

पिछले परिच्छेद के अध्ययन से हमें यह ज्ञात हो गया कि नोट किस प्रकार चालू किये जाते हैं। यहाँ हम यह जानने का प्रयत्न करेंगे कि नोट प्रचलन के क्या सिद्धान्त हैं और उन्हें अधिक से अधिक सुरक्षित एवं विश्वसनीय बनाने के लिये कोष की किस प्रकार व्यवस्था की जाती है।

नोट प्रचलन के सिद्धान्त

नोट प्रचलन के दो सिद्धान्त हैं। इन्हें "राज द्रव्य सिद्धान्त" और "बैंक सिद्धान्त" अथवा अधिक स्पष्टता के लिये क्रमशः "सुरक्षा" और "उपयोगिता" सिद्धान्त कह सकते हैं।

नोट प्रचलन में सुरक्षा को अधिक महत्व देने वाले राज-द्रव्य सिद्धान्त का पालन करना अधिक उचित समझते हैं और

उपयोगिता को अधिक महत्व देने वाले बैंक सिद्धान्त का समर्थन करते हैं।

राजद्रव्य को सुरक्षा सिद्धान्त इसलिये कहते हैं कि राजद्रव्य के प्रचलन में सबसे बड़ा और मूल उद्देश्य सुरक्षा का होता है। राज्य ने द्रव्य-प्रचलन को अपने हाथ में इसलिये लिया कि द्रव्य का संगठन पूर्ण रूप से सुरक्षित रहे और लोगों का उस पर अटूट विश्वास रहे। नोटों का प्रचलन जब राज्यद्रव्य रूप में होता है तो उन्हें भी उतना ही सुरक्षित तथा विश्वसनीय रक्खा जाता है जितना अन्य राज्यद्रव्य होता है।

इस उद्देश्य से प्रचलित नोटों के मूल्य के बराबर धातुमुद्रा के रूप में कोष रखना आवश्यक है। ऐसा करने से किसी समय भी नोटों के बदले धातुद्रव्य या स्वर्ण दिया जा सकता है। इससे लोग नोटों को उतना ही मूल्यवान समझते हैं जितना धातुद्रव्य को। इस प्रकार नोट वास्तव में धातुद्रव्य के प्रतीक रूप में प्रचलित किये जाते हैं। पूर्ण प्रतीक रूप में प्रचलित नोटों पर जनसाधारण का अन्य राज्यद्रव्य की ही भांति अटूट विश्वास रहता है और व्यापार उद्योग तथा आर्थिक क्षेत्र के सभी काम सुचारु रूप से चलते हैं। प्रत्येक नोट के बदले धातु रूप में उतनी ही मात्रा कोष में रखने के प्रतिबन्ध के कारण नोटों में अधिक वृद्धि की सम्भावना नहीं रहती। परन्तु इस प्रथा में यह दोष है कि बहुत बड़ी मात्रा में

सोना बैंक की तिजोरियों में या राजकोष में बेकार पड़ा रहता है। इसके अतिरिक्त उद्योग तथा व्यापार की वृद्धि होने पर इच्छानुसार विस्तार नहीं हो पाता जिससे देश की उत्पादन शक्ति को बड़ा धक्का लगता है।

बैंक सिद्धान्त का अनुकरण उपयोगिता के आधार पर किया गया है। बैंक जितना रुपया अपने ग्राहकों का जमा करते हैं वह सब उनके पास तैयार नहीं रखा रहता। उसका अधिकांश वे पूंजी के रूप में लगा देते हैं और उस पर लाभ कमाते हैं। उनके पास केवल थोड़ा सा रुपया तैयार रहता है। इसका कारण यह है कि प्रत्येक बैंक यह समझता है कि उसके सभी ग्राहक एक साथ रुपया माँगने नहीं आते हैं।

इस कारण अनुमान से कुछ अधिक रुपया तैयार रखकर शेष का प्रयोग लाभ कमाने में करते हैं। नोटों के सम्बन्ध में भी यह बात सत्य है। यद्यपि प्रत्येक नोट के अधिकारी को बैंक के ग्राहक की भांति रुपया माँगने का अधिकार है किन्तु वास्तव में रुपया माँगने यदाकदा ही कोई आता है। इसलिए जितने मूल्य के नोट प्रचलित किये जावें उन सबके मूल्य के बराबर धातुद्रव्य या मूल्यवान धातु इकट्ठा रखना उपयोगिता की दृष्टि से कुछ उचित नहीं जान पड़ता। अतः मांगने वालों का अनुमान लगाकर आवश्यकता से कुछ अधिक कोष रखकर शेष को लाभ कमाने के लिये लगाया जा सकता है। बैंक की ही भांति अपने दायित्व का केवल कुछ भाग कोष में तैयार रखने के

कारण इस सिद्धान्त को बैंक का सिद्धान्त कहते हैं। इस सिद्धान्त की उपयोगिता इतने से ही समाप्त नहीं हो जाती। यह सिद्धान्त इसलिए और उपयोगी है कि उद्योग तथा व्यापार की आवश्यकतानुसार नोटों की मात्रा में पर्याप्त वृद्धि की जा सकती है। इसके विपरीत राज्यद्रव्य सिद्धान्त पर चलने से वृद्धि केवल तभी हो सकती है जब धातु की मात्रा में वृद्धि हो। परन्तु हमें यह भी ध्यान में रखना चाहिये कि द्रव्य की उपयोगिता तभी तक है जब तक उसपर जनसाधारण का अटूट विश्वास है। इसलिए सुरक्षा का दृष्टिकोण भी बिल्कुल भुलाया नहीं जा सकता। वास्तव में सर्वोत्तम सिद्धान्त वह है जो नोटों को पूर्णरूप से सुरक्षित तथा विश्वसनीय रखते हुए अधिक से अधिक उपयोगिता को प्राप्त कर सके।

विभिन्न देशों में समय समय पर इन सिद्धान्तों को क्रियात्मक रूप देने का प्रयत्न किया गया जिसके फलस्वरूप नोट प्रचलन की अनेक प्रणालियों का प्रयोग हुआ। इन्हीं प्रणालियों का अब हम अध्ययन करेंगे।

१—सम्पूर्ण कोष प्रणाली

यह प्रणाली नोट प्रचलन के राजद्रव्य अर्थात् सुरक्षा-सिद्धान्त का अक्षरशः पालन करती है। जैसा इसके नाम से ही स्पष्ट है इस प्रणाली में नोटों के लिए राजकोष अथवा बैंक में उनके बराबर मूल्य की धातु अथवा धातुमुद्रा जमा रहती है। उन्हें किसी भी समय धातुद्रव्य या

धातु में परिवर्तित कराया जा सकता है। यह नोट प्रचलन की सबसे पुरानी प्रणाली है। नोट का चलन इसी आधार पर सबसे पहिले प्रारम्भ हुआ था। सुवर्ण जैसी मूल्यवान धातु को मुद्रारूप में प्रयोग करके घिस डालना ठीक नहीं समझा गया और इसलिए घिसाव के द्वारा होने वाली हानि को बचाने के लिए सुवर्ण के प्रतिनिधि कागजी नोटों का प्रचलन हुआ। आजकल सम्भवतः कोई भी देश इस प्रणाली का पालन नहीं करता है।

इस प्रणाली के प्रयोग से धातु मुद्रा के घिसाव से होने वाली हानि बच जाती है। द्रव्य गिनने ले जाने और ले आने आदि की भी सुविधा होती है। परन्तु नोट प्रचलन का सबसे बड़ा लाभ द्रव्य की लचनशीलता है, वह इस प्रणाली के पालन करने से प्राप्त नहीं हो सकता। जितनी धातु हो उतना ही द्रव्य प्राप्त हो सकता है। इस प्रकार उद्योग तथा व्यापार की बढ़ती हुई आवश्यकताओं को संतुष्ट कर सकना प्रायः असम्भव हो जाता है। परन्तु एक बात इस प्रणाली के पक्ष में भी है। सम्पूर्ण कोष का प्रतिबन्ध होने के कारण नोटों की मात्रा में कमी भी अत्याधिक विस्तार नहीं हो सकता।

इस प्रणाली का दूसरा दोष यह है कि देश का बहुत सा बहुमूल्य द्रव्य धातु के रूप में पंगु बन कर कोष में निरर्थक पड़ा रहता है। यह सार्वजनिक हित के विरुद्ध हैं। यदि उससे और कार्य लिया जा सके तो उस कार्य से होने वाला लाभ जन साधारण के हित में देश की सुख समृद्धि में सहायक हो

सकता है। उस द्रव्य को पूँजी रूप में लगा कर उस पर लाभ कमाया जा सकता है।

२— अनुपातिक कोष प्रणाली

नोट प्रचलन की इस प्रणाली का आधार बैंक सिद्धान्त है। जितने मूल्य के नोट प्रचलित किए जाते हैं उस सबके लिए सोना या मुद्रा रूप में कोष रखना आवश्यक नहीं होता। प्रचलित किए हुए नोटों के मूल्य का केवल कुछ अंश ही स्वर्ण मुद्रा या धातु रूप में संचित करना पड़ता है और शेष को पूंजी रूप में लगाकर लाभ कमाया जा सकता है। उदाहरण के लिए संयुक्त-राष्ट्र, दक्षिण अफ्रीका और हमारे देश में प्रचलित नोटों के बदले केवल ४० प्रतिशत संचित कोष रखना पड़ता है और शेष को सरकारी ऋण पत्र आदि में लगाया जा सकता है।

जहाँ तक बर्धनशीलता का प्रश्न है व्यापार तथा उद्योग की आवश्यकतानुसार इस प्रकार के नोटों में सरलता से बृद्धि की जा सकती है। यद्यपि प्रत्येक नोट के लिए संचित कोष रखना आवश्यक होता है किन्तु थोड़े संचित कोष से अधिक मात्रा में बृद्धि हो जाती है। इसमें अतिविस्तार पर रोक होते हुए भी आवश्यक विस्तार कठिन नहीं। इस प्रकार हम देखते हैं कि उपयोगिता, सुरक्षा, विश्वास और वर्धनशीलता के सभी गुणों का सम्मिश्रण हमें इस प्रणाली में मिलता है। यही कारण है कि अभी तक प्रचलित नोट प्रचलन की सभी प्रणालियों में यह प्रणाली सर्वोत्तम समझी जाती है।

३—सीमित नोट मात्रा प्रणाली

इस प्रणाली में नोटों की मात्रा और संचित कोष में कोई सम्बन्ध नहीं होता है। नोटों की एक मात्रा नियत कर दी जाती है। इससे अधिक मात्रा में नोट प्रचलन का अधिकार नहीं होता जब तक यह सीमा सरकार द्वारा बढ़ाई न जावे। इस प्रणाली का सबसे बड़ा दोष इसमें बर्धनशीलता का अभाव है। नोटों की मात्रा की सीमा साधारण परिस्थितियों में व्यापार आदि की आवश्यकता को देखकर निश्चित की जाती है। इसलिये आकस्मिक आवश्यकता पड़ने पर नोटों में विस्तार न हो सकने से व्यापार और उद्योग को धक्का लगता है। यह सीमा बढ़ाई अवश्य जा सकती है किन्तु एकाएक आवश्यकता आ पड़ने पर सीमा का तुरन्त बढ़ा देना सम्भव नहीं है।

४—न्यूनतम कोष प्रणाली

आनुपातिक कोष प्रणाली की भांति यह प्रणाली केवल न्यूनतम कोष रखने के पक्ष में है। अनुपातिक प्रणाली में नोटों में वृद्धि होने पर उसीके अनुपात से संचित कोष में भी वृद्धि करनी पड़ती हैं किन्तु इस प्रणाली में कोष की न्यूनतम सीमा पूरी होने पर फिर अधिक नोटों के लिए अधिक कोष बढ़ाना आवश्यक नहीं है।

इस प्रणाली में उपयोगिता और वर्धनशीलता का गुण है किन्तु यह पूर्णरूप से सुरक्षित और विश्वसनीय नहीं है।

इसका कारण यह है कि इस प्रणाली में अतिविस्तार बहुत ही सरल है।

५—साख पर आधारित प्रणाली

यह प्रतिनिधि नोट प्रणाली का ही एक रूप है। जिसमें दोषों को दूर करके उसके गुणों को बनाये रखने का प्रयास किया गया गया है। इसमें राज्य की ओर से नोट चालू करने की सीमा निर्धारित होती है जिस तक बिना मुद्रा अथवा सोना चाँदी रखे नोट प्रचलन का अधिकार होता है। इन नोटों का आधार कोष में संचित धन न होकर अन्यत्र पूंजी रूप में लगा हुआ धन या सरकारी सिक्योरिटी अथवा ऋण पत्र आदि होता है। इस प्रकार वास्तविक धन नहीं वरन साख या विश्वास के आधार पर यह नोट चालू किए जाते हैं। इसी कारण इन्हें विश्वास के आधार पर प्रचलित नोट कहते हैं। इस प्रकार से देश की आवश्यकता का अनुमान लगाकर नोटों की मात्रा निश्चित कर देने पर धन के पंगु बनकर पड़े रहने वाला प्रतिनिधि नोटों का दोष दूर हो जाता है। परन्तु उस सीमा के बाहर यदि एक नोट भी प्रचलित करना हुआ तो उसके लिये पूरा पूरा धातु मुद्रा या धातुरूप में कोष रखना पड़ता है।

उपयोगिता की दृष्टि से यह प्रणाली साधारण परिस्थितियों में सर्वोत्तम सिद्ध हुई है। इसमें नियत सीमा के भीतर नोटों के बदले कुछ भी कोष रखना आवश्यक नहीं होता। वह

सब का सब लाभ कमाने के लिए पूंजी रूप में लगा दिया जाता है। जहाँ तक अतिविस्तारका सम्बन्ध है इस प्रणाली में उस पर उतनी ही रोक लगी है जितनी प्रतिनिधि नोट प्रणाली में। सीमा के पार जितना कोष होगा उतने ही मूल्य के नोट प्रचलित किये जा सकते हैं। साख वाली सीमा के भीतर नोटों की मात्रा इतनी नहीं होती कि व्यापार और उद्योग की आवश्यकता से अधिक हो। इसके अतिरिक्त उस सीमा के भीतर संचय न होते हुये भी, माँगने पर नोटों को परिवर्तित कर सकना राज्य अथवा बैंक की शक्ति के बाहर नहीं क्योंकि द्रव्य अथवा सोना के स्थान पर ऐसे ऋण पत्र होते हैं जिन्हें तुरन्त ही बेचकर द्रव्य प्राप्त हो सकता है। इन कारणों से लोगों का विश्वास भी ऐसे नोटों के ऊपर दृढ़ होता है।

इस प्रणाली में यदि कोई दोष है तो वर्धनशीलता के सम्बन्ध में। नोट प्रचलन की सीमा व्यापार तथा उद्योग की साधारण आवश्यकताओं को दृष्टि में रखकर स्थिर की जाती है। उसके अतिरिक्त यद्यपि सरकार इस सीमा को बढ़ा सकती किन्तु उससे भी अधिक आकस्मिक आवश्यकता उठ खड़ी होने पर प्रत्येक नोट के लिए उतने मूल्य का सोना संग्रह करना आवश्यक होता है। इस प्रकार नोटों में उतनी ही वृद्धि सम्भव होती है जितना सोना प्राप्त हो सकता है। सामान्य परिस्थिति में कोई भी प्रणाली चल सकती है; वास्तविक परीक्षा

तो संकट काल में होती है और तभी हम इस प्रणाली को अनुपयुक्त पाते हैं। इंगलैंड जैसे औद्योगिक तथा व्यापारिक देश में यह प्रणाली सफलता पूर्वक चल गई, इसके लिए श्रेय इस प्रणाली को नहीं वरन् इंगलैंड के औद्योगिक तथा व्यापारिक और बैङ्किग व्यवस्था को मिलना चाहिए। वहाँ पर चेक के द्वारा भुगतान का इतना अधिक प्रचार है कि उद्योग तथा व्यापार की आवश्यकता बढ़ने पर स्थूल द्रव्य की मात्रा न बढ़ते हुए भी चेकों के द्वारा काम सफलता से चला जाता है। यदि व्यापारिक क्षेत्र में चेक का इतना अधिक प्रयोग न होता तो इंगलैंड कब का इस प्रणाली को छोड़ चुका होता!

आदर्श प्रणाली के लक्षण

उपरोक्त विविध प्रणालियों का वर्णन पढ़ने के बाद यह जान लेना भी उचित है कि कौन सी प्रणाली ठीक है। यह जानने के लिए हमें हर प्रणाली को आदर्श प्रणाली के निम्नलिखित लक्षणों की दृष्टि से परखना चाहिए :

१—नोटों की परिवर्तनशीलता

नोटों को अधिकाधिक जन प्रिय बनाने के लिए यह आवश्यक है कि उन्हें हर प्रकार से परिवर्तनशील रक्खा जाय। अतः उनकी सुरक्षा के लिए जो पद्धति निश्चय की जाय वह प्रणाली ऐसी हो जिसमें नोट परिवर्तन की पूरी सुविधा हो। क्योंकि ऐसा न होने से सर्व साधारण का नोटों के प्रति विश्वास

कम हो जाने का सन्देह रहता है।

२—अत्यधिक प्रसार से सुरक्षा

प्रणाली वही अच्छी मानी जायगी जिसमें नोटों के अत्यधिक प्रचलित होने की लेश मात्र भी सम्भावना न हो। नोट चालू करने वाले का सर्व प्रथम उद्देश्य यही होना चाहिए कि आवश्यकता से अधिक नोटों का विस्तार न होने पावे क्योंकि अत्यधिक नोट चालू हो जाने से जनता के विभिन्न वर्गों पर इसका बहुत ही हानिकारक प्रभाव पड़ता है। अतः आपत्ति काल को छोड़ यथासम्भव नोट प्रचलन के अधिकारियों की सदैव यही चेष्टा होनी चाहिए कि नोटों में आवश्यकता से अधिक वृद्धि न होने पावे।

३—बढ़ने घटने की शक्ति

नोटों में अत्यधिक वृद्धि होने के ऊपर तो रुकावट होनी ही चाहिए, साथ ही यह भी अत्यन्त आवश्यक है कि नोट प्रचलन की प्रणाली ऐसी हो जिसमें आवश्यकतानुसार नोटों की मात्रा में कमी या वृद्धि सरलतापूर्वक की जा सके। ऐसा न होने से द्रव्य की माँग और पूर्ति में अन्तर पड़ने के फल स्वरूप वस्तुओं के मूल्य पर प्रभाव पड़ता है जिससे समाज का अहित होने की सम्भावना रहती है। अतः वही प्रणाली सन्तोषजनक है जिसका अनुकरण करने से द्रव्य के मूल्य में परिवर्तन यथासम्भव न हो।

४—मितव्ययता

साथ ही यह भी ध्यान में रखने की बात है कि जो प्रणाली तय की जाय उस पर अधिक व्यय न हो। पहिले संकेत किया जा चुका है कि नोटों का प्रचार व्यय कम करने की दृष्टि से ही किया जाता है अतः यदि ऐसी प्रणाली का प्रयोग किया गया जिसमें व्यय अधिक हुआ तो फिर नोट प्रचलन का उद्देश्य प्राप्त करना ही दुर्लभ हो जायगा। इसलिए ऐसी प्रणाली चुनी जानी चाहिए जिसका पालन करने से व्यय यथासम्भव कम से कम हो।

५—सरलता

अंत में यह कह देना भी उचित है कि प्रणाली ऐसी होनी चाहिए जिसे समझने में कठिनता न हो और जिसका कार्यान्वित करना सरल हो। यदि उसके समझने अथवा प्रयोग करने में अड़चन हुई तो वह पद्धति स्थायी और सुचारु रूप से न चल सकेगी। इसके अतिरिक्त यह वांछनीय है कि प्रणाली के सिद्धान्त इतने सरल हों कि जहाँ तक सम्भव हो साधारण ज्ञान वाला भी उन्हें समझ सके। ऐसा होने से लोगों में उस प्रणाली के प्रति विश्वास बढ़ेगा। सर्वसाधारण का अधिक से अधिक विश्वास प्राप्त कर लेना हर प्रणाली का अनिवार्य लक्षण होना चाहिए। यह तभी सम्भव है जब वह प्रणाली इतनी आसान हो कि लोग उसे सरलता से समझ सकें।



साख या साख-द्रव्य



परिच्छेद आठ



साख या साख-द्रव्य

साख का शाब्दिक अर्थ है मर्यादा या विश्वास। इस शब्द का प्रयोग जब हम बाजार के लेन देन अथवा विनिमय के सम्बन्ध में करते हैं तो हमारा आशय किसी व्यक्ति की उस प्रतिष्ठा से होता है जिसके द्वारा वह लेन देन का कार्य सरलतापूर्वक कर सके। अब प्रश्न यह है कि द्रव्य के सम्बन्ध में साख की क्या आवश्यकता है और उसका क्या महत्व है? इस अध्याय में हम इन्हीं बातों पर विचार करगे।

साख की उत्पत्ति

पिछले अध्याय में हम देख चुके हैं कि द्रव्य का प्रयोग होने के पूर्व मनुष्य को लेन देन करने में अनेक अड़चनों का सामना करना पड़ता था अतः उन असुविधाओं को दूर करने के लिए

उसने मुद्रा रूप में द्रव्य का सहारा लिया और फिर क्रमशः नोटों का प्रयोग किया। इस सम्बन्ध में यह कहना अनुचित न होगा कि बहुधा इस प्रकार के द्रव्य का प्रयोग करने में भी असुविधा मालूम होती है। जैसे यदि हमें एक ही दुकानदार से एक माह में कई वस्तुएँ कई बार मोल लेनी हो तो प्रत्येक का नकद रुपया न देकर हम यही चाहेंगे कि वह हमारा हिसाब लिखता जाय और हम उसे महीने के अन्त में एक बार भुगतान कर दें। ऐसा करने में बड़ी सुविधा होती है क्योंकि हर समय पर्याप्त मात्रा में अपने पास नकद रुपया रखना प्रायः सम्भव नहीं हो सकता। इसी भाँति यदि २, ४ लाख रुपये का सामान मोल लें तो इतने रुप्ये का इकट्ठा भुगतान करना कुछ कठिन हो सकता है। हाँ यदि २, ३ मास का अवसर मिले तो हम भुगतान अवश्य सरलता से कर सकेंगे। साथ ही एक असुविधा और भी हो सकती है। यदि हम मान लें कि नोटों का प्रचार नहीं है या नोट कम मूल्य के हैं तो ऐसी दशा में २, ४ लाख मुद्राओं का गिनना बहुत कठिन समस्या हो जायगी क्योंकि ऐसा करने में अधिक समय लगेगा और गिनने में भी भूल हो सकती है। इसके अतिरिक्त यदि व्यापारी दूर देशों के रहने वाले हुये तो इतना द्रव्य भेजने में भी कठिनाई होगी। यह असुविधा और अधिक बढ़ जायगी यदि व्यापारी दो विभिन्न देशों के रहने वाले हुये, क्योंकि एक देश की मुद्रा अथवा उसके नोट वहाँ के ही देशवासियों के लिये अनिवार्य रूप से मान्य होते हैं, अन्य

देशवासियों के लिए नहीं। इन्हीं सब अड़चनों को दूर करने के लिये जैसे जैसे मनुष्यों का पारस्परिक सम्बन्ध घनिष्ठ होता गया, साख का प्रादुर्भाव हुआ।

आजकल हम देखते हैं कि हजारों-लाखों रुपये का थोक व्यापार इसी साख पर निर्भर है। ऐसे थोक माल का भुगतान कुछ समय बाद ही किया जाता है। इसका एक मात्र कारण साख ही है। क्योंकि ऐसा सौदा उन्हीं लोगों में होता है जिनमें आपस में विश्वास है, जिनकी एक प्रकार से व्यापारिक संसार में प्रतिष्ठा है और जिनसे रुपया मारे जाने की किसी प्रकार की आशंका नहीं होती।

इस भाँति हम यह कह सकते हैं कि साख मनुष्य के व्यवहार विश्वास और उसकी मान मर्यादा की द्योतक है। हर एक व्यक्ति की साख-शक्ति समान नहीं होती क्योंकि किसी का प्रभाव कम होता है और किसी का अधिक और उसी के अनुसार उसकी साख निर्धारित होती है।

विकास के साधन

साख की भावना मनुष्य में कब और क्यों आई और उसका विकास कैसे हुआ? यह एक स्वाभाविक प्रश्न है। हम पहिले लिख चुके हैं कि अपनी बढ़ती हुई आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए मनुष्य ने विनिमय का सहारा लिया और इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिये उसने अपना सामाजिक क्षेत्र धीरे धीरे विस्तृत किया ताकि इस प्रकार सम्पर्क स्थापित करके वह

अधिक से अधिक वस्तुएँ प्राप्त कर सके। समय की गति के साथ उसकी वृद्धि के लिए आवश्यक सुविधाओं के अनुसार यह विनिमय व्यापार अधिकाधिक व्यापक होता गया यहाँ तक कि आज हम देखते हैं कि व्यापार न केवल पड़ोसियों या एक ही देश के अन्दर रहने वालों तक सीमित है बल्कि यह समस्त संसार में एक कोने से दूसरे कोने तक फैला हुआ है। व्यापार के विस्तार के साथ ही साख का विस्तार भी दिन प्रति दिन बढ़ा और बढ़ता जा रहा है। इस विकास में मुख्य रूप से निम्नलिखित साधनों का बहुत कुछ प्रभाव पड़ा है :—

यातायात तथा संदेश वाहन के साधन

इन साधनों में वृद्धि होने से मनुष्य मात्र का पारस्परिक सम्बन्ध बहुत ही घनिष्ट हो गया है और इनकी सहायता से संसार के कितने ही दूर स्थित देशों के रहनेवालों में घनिष्ट से घनिष्ट सम्पर्क सरलतापूर्वक स्थापित किया जा सकता है। पारस्परिक परिचय न होने के कारण सन्देह की भावना होती है। उपरोक्त सुविधा के कारण परिचय बढ़ता जा रहा है और धीरे धीरे सन्देह की भावना कम होती जा रही है तथा उसके स्थान पर विश्वास या साख की भावना बढ़ती जा रही है।

साख पत्र और साख संस्थायें

बैंकों की स्थापना और उनके द्वारा चलने वाले चेक

हुन्डी तथा बिल इत्यादि का प्रचार हो जाने से साख के विकास में बहुत सहायता मिली है। यदि इस प्रकार के साख पत्र न होते तो सम्भव है कि साख की जो वृद्धि आज हुई है वह न हो पाती। साथ ही बैंकों की सहायता से व्यापारिक संसार में लोगों का परिचय प्राप्त करने में बड़ी सुविधा हो गई है। हम एक दूसरे के प्रति विश्वास तभी करते हैं जब हमें उस के विषय में पूरी पूरी जानकारी प्राप्त हो जाती है। यह जानकारी हम किसी गुप्त प्रकार से पाने की चेष्टा नहीं करते। साथ ही हर एक मनुष्य के लिये अकेले बहुत से मनुष्यों की इस प्रकार की साख सम्बन्धी बातें जानना भी असम्भव है। अतः बैंक जिनका यह बहुत ही महत्वपूर्ण कार्य बन गया है पूछे जाने पर मुख्यकर अपने ग्राहकों को यथा उचित परिचय स्वयं दे देते हैं। विभिन्न देशों में या एक ही देश के विभिन्न प्रदेशों में उनकी शाखाएँ होती हैं जिनके द्वारा वह इस प्रकार की बाते बड़ी सरलता से जान सकते हैं। उनको इसके लिये कोई विशेष प्रयास नहीं करना पड़ता और न इस कार्य में कुछ लागत ही लगती है—दूसरी ओर व्यापारियों का कार्य घर बैठे बन जाता है। व्यापारिक जगत के लिये बैंको की यह बहुत बड़ी सहायता है।

कानूनी नियमों का प्रबन्ध

पारस्परिक सम्बन्ध बढ़ने से मनुष्य में एक दूसरे के प्रति

विश्वास की भावना अवश्य बढ़ी और उससे साख की नीव भी पड़ी। परन्तु उसकी उन्नति में साख सम्बन्धी कानूनी नियम बन जाने से बड़ी सहायता मिली है। जैसे यदि कोई मनुष्य १००) रु० ६ मास बाद पुनः वापस करने का वचन दे और यदि हम उससे परिचित हैं और हमें उसके प्रति बिश्वास है तो हम उसे रुपया उधार देने को तैयार तो हो जाते हैं परन्तु यदि किसी प्रकार कानूनी व्यवस्था की अनुपस्थिति में वह ३ मास बाद रुपया न दे तो फिर उससे रूपया लेना हमारे लिये असम्भव हो जायेगा और यदि ऐसे ही २, ४ उदाहरण हुये तो साख को धक्का लगने का भय है। परन्तु अगर इन्हीं बातों की नियम-पत्र द्वारा लिखा पढ़ी हो जाती है तो कानूनी नियमों की सहायता से स्वीकार-पत्र को एक प्रकार की शक्ति मिलती जिससे बुरी नियत वालों को दंड मिल सकता है और साख देने वालों को हानि होने का कोई भय नहीं रहता। उदाहरणार्थ हम जानते हैं कि हमारे देश में ऐसे अनेक कानूनी नियम हैं जिनसे चेक, बिल और हुन्डी के प्रचलन में और उनके द्वारा ऋण चुकाने अथवा साख देने में बड़ी सुविधा हो गई है और उन नियमों का उलंघन करने वाला दंडनीय माना जाता है ऐसी व्यवस्था हो जाने से साख की उन्नति में उत्तरोत्तर बृद्धि हुई और होती जा रही है।

साख के लिए अनिवार्य बाते

साख एक आपेक्षिक शब्द है। अतः किसी व्यक्ति की साख

जानने के लिए यह आवश्यक है कि इस सम्बन्ध में हमें निम्नलिखित बातों का पूर्ण ज्ञान हो :

(१) साख का मूल्य,

(२) समय और

(३) विश्वसनीयता ।

बिना इन तीन बातों को जाने किसी व्यक्ति के विषय में साख का अनुमान नहीं लगाया जा सकता क्योंकि यह सम्भव है कि किसी व्यक्ति का जिसमें हमें विश्वास है और जिससे हम परिचित हैं उसका हम ५००) रु० तक विश्वास कर सकते हों परन्तु ५०००) रु० के लिये नहीं। इसी प्रकार यह भ सम्भव है कि उस व्यक्ति का विश्वास ४, ६ मास तक के लिये हम कर सकते हों किन्तु ४, ६ साल के लिये नहीं। इसी भाँति यह भी हो सकता है कि हमारे विश्वास की मात्रा कुछ व्यक्तियों में अधिक हो और कुछ में कम। अतः किसी भी व्यक्ति के प्रति साख का अनुमान लगाने के लिये हमें उपरोक्त तीन बातें पहले से ही निश्चित कर लेनी चाहिये, कि हमें अमुक व्यक्ति को कितना रुपया कितने समय के लिये देना है और वह व्यक्ति कहाँ तक विश्वासपात्र है।

इसके अतिरिक्त आजकल के समय में जब हर एक बात की पुष्टि कानूनी दृष्टि से की जाती है—साख के सम्बन्ध में जमानत का भी महत्व बढ़ गया है जैसे, भले ही कोई व्यक्ति हमसे अपरिचित हो, परन्तु यदि वह किसी अन्य परिचित

व्यक्ति की अथवा किसी वस्तु की ठोस जमानत दे सकता है तो हम उसे साख देने में कभी नहीं हिचकते क्योंकि इस जमानत से हमारे हाथ में एक प्रकार की शक्ति सी आ जाती है जिससे हमें यह विश्वास हो जाता है कि हमारा रुपया मारा नहीं जायगा। अगर उधार लेने वाला व्यक्ति बेईमान सिद्ध हुआ तो कानूनी नियमों के अनुसार हमें यह अधिकार मिल जाता है कि हम अपना रुपया उस व्यक्ति से प्राप्त कर लें जिसने उधार लेने वाले की जमानत की थी अथवा यदि उस व्यक्ति ने कोई वस्तु की जमानत दी है तो फिर उस वस्तु को बेंचकर भी नियम के अनुसार हम अपनी हानि पूरी कर सकते हैं। वर्तमान समय में जमानत की पद्धति का प्रचार इतना अधिक बढ़ गया है कि उसके बिना शायद ही कोई साख की बात चलाता हो। यहाँ तक कि हम अपने सगे सम्बंधियों के बीच में भी जमानत के रूप में बिना किसी वस्तु को प्राप्त किये सहसा रुपया उधार देने में संकोच कर बैठते हैं। कुछ अंश तक यह बात उचित भी है क्योंकि इस नियम से उन व्यक्तियों के साख पाने पर रोक लग जाती है जो वास्तव में साख पाने योग्य नहीं हैं और जो केवल इधर उधर के कार्यों में ही उड़ाने के लिये रुपया पाने की चेष्टा करते हैं। साथ ही उधार देने वालों का धन भी कुछ अंश तक सुरक्षित हो जाता है। अतः साख के लिये जमानत आवश्यक समझना चाहिये। यही कारण है कि बड़े से बड़े

बैंक भी बिना जमानत के अपने ग्राहकों तक को सहसा आर्थिक सहायता पहुँचाने में प्रायः असमथता दिखाने लगते हैं।

साख और पूँजी

बहुधा प्रश्न किया जाता है कि साख और पूँजी में क्या अन्तर है, या दूसरे शब्दों में साख पूँजी है अथवा नहीं ? यद्यपि सम्पत्ति उत्पादन के लिये साख एक बहुत ही महत्वपूर्ण साधन है लेकिन फिर भी साख को हम पूँजी कह सकते हैं अथवा नहीं, इस प्रश्न का उत्तर हमें कुछ सोचकर ही देना होगा। अस्तु

अर्थशास्त्र के ज्ञान के आधार पर हम कह सकते हैं कि पूँजी बचाई हुई सम्पत्ति का वह भाग है जिसके द्वारा हम वह वस्तुयें संग्रह कर सकें जिनकी सहायता से हम और अधिक सम्पत्ति निर्माण करते हैं। पूँजी की इस परिभाषा की कसौटी पर यदि हम साख को कसें तो वह खरी नहीं उतरती है। क्योंकि हम पहिले ही बता चुके हैं कि साख की सहायता से हम केवल पूँजी एकत्र कर सकते हैं। और सम्पत्ति का उत्पादन तो पूँजी पर निर्भर है न कि प्रत्यक्ष रूप से साख पर। अतः जिस प्रकार अपने धन की बचत पूँजी एकत्र करने का साधन अवश्य है किन्तु बचत स्वयं पूँजी नहीं कही जा सकती उसी प्रकार साख स्वयं पूँजी न होकर, पूँजी एकत्र करने का एक साधन मात्र है। साख के द्वारा

पूँजी ऐसे हाथों में पहुँच जाती है जहाँ वह अधिक उपयोगी सिद्ध होती है—उसके द्वारा अधिक उत्पादन सम्भव हो जाता है। परन्तु विज्ञापन, सरकारी सहायता, वैज्ञानिक अन्वेषण आदि अनेक ऐसी बातें हैं जो उत्पादन को वृद्धि में सहायक होती हैं परन्तु उन्हें हम पूँजी नहीं मानते। इसी प्रकार उत्पादन की वृद्धि में सहायक होते हुए भी साख स्वयं पूँजी न होकर पूजी को उपयोगिता बढ़ाने का एक उपकरणमात्र है।

हाँ, इतना अन्तर होते हुए भी हमें यह अवश्य मानना पड़ेगा कि पूँजी और साख में अविछिन्न सम्बन्ध है। इसके लिये तर्क देने की आवश्यकता नहीं क्योंकि सबको विदित है कि आजकल साख उसी की माना जाती है जिसके पास पूँजी है और जिसके पास पूँजी नहीं, भले ही वह सच्चा क्यों न हो, उसकी साख नहीं के तुल्य है। पूँजी और साख साथ साथ चलते हैं, एक के बिना दूसरे का बढ़ना सम्भव नहीं प्रतीत होता। यह एक दूसरे के पूरक हैं और दोनों ही एक साथ मिलकर सम्पत्ति के उत्पादन में सहयोग देते हैं।

साख की उपयोगिता

मनुष्य को साख का लाभ न केवल व्यक्तिगत् दृष्टि से हुआ है किन्तु उसका प्रयोग समस्त समाज और देश के लिए सामुहिक रुप से उपयोगी सिद्ध हुआ है। साख का सबसे बड़ा लाभ यह है कि उसके कारण साख पत्रों का प्रयोग दिन प्रति दिन बढ़ता जा रहा है और इससे धातु मुद्रा की

माँग प्रायः उतनी नहीं बढ़ती जितनी बढ़नी चाहिए। अतः मूल्यवान चाँदी और सोने जैसी धातुओं का प्रयोग द्रव्य रूप में कम किया जाता है। यह देश की बहुत बड़ी बचत है। यदि साख पत्रों और नोटों का इतना प्रचार न होता तो शायद धातु मुद्रा की उत्तरोत्तर बढ़ती हुई माँग को पूरा करना भी असम्भव हो जाता क्योंकि इन धातुओं की मात्रा सीमित है। साख का दूसरा लाभ यह है कि धन अधिक मात्रा में भी कम व्यय में अधिक सुगमतासे स्थानान्तरित किया जा सकता है।

यदि किसी व्यक्ति में जिसके पास यथेष्ट धन है उसका पूर्ण सदुपयोग करने की क्षमता नहीं है तो सरलता से वह किसी ऐसे व्यक्ति को अपना धन दे सकता है जो इस धन को सम्पति रूप में उत्पादन में लगा कर न केवल अपना और अपने साथियों का वरन् समस्त समाज का हित कर सकता है। दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि साख द्वारा सम्पत्ति की गतिशीलता बढ़ती है जिससे उसकी उपयोगिता में वृद्धि होती है और उत्पादन में सहायता मिलती है।

इससे देश को दोहरा लाभ होता है। एक तो यह कि धन बेकार पड़े रहने से बच जाता है और उसका उपयोग देश के विविध उद्योग धन्धों में किया जा सकता है। यह कार्य बैंकों की सहायता से भली भाँति सम्पन्न हो सका है। वह अपने ग्राहकों से थोड़ा-थोड़ा धन इकट्ठा करके उन संस्थाओं

अथवा व्यक्तियों को देते हैं जिनमें उस धन को अनेक प्रकार के व्यवसाय और उद्योग कार्यों में लगाने की योग्यता होती है। इसका लाभ सम्पूर्ण देश को मिलता है। इसके साथ दूसरा लाभ यह भी है कि उन व्यक्तियों की सम्पूर्ण शक्तियों का सदुपयोग होता है जो धनाभाव के कारण एक प्रकार से सम्भवतः अकर्मण्य ही रह जाते हैं। ऐसे मनुष्यों को कार्य करने का प्रोत्साहन मिलता है जो सब प्रकार से वांछनीय है और देश के हित की बात है। साख का तीसरा लाभ यह है कि उससे व्यापार में बड़ी सहायता मिली है। विदेशी व्यापार में साख का विशेष महत्व है। कहना न होगा कि वाह्य व्यापार तो केवल साख पर ही अवलम्बित है। बैंको की सहायता से अगर विभिन्न और दूर देशों के रहने वाले व्यापारी अथवा उद्योगपति एक दूसरे से परिचित न होते तो आज का व्यापार अपने वर्तमान स्वरूप में कभी भी न आ सकता। साख का एक और लाभ यह भी है कि साख के प्रयोग से हमारी वह असुविधाएं दूर हो गई हैं जो हमें नकद रुपया भुगतान करने में प्रायः होती हैं। और जिनकी ओर हम पहिले संकेत भी कर चुके हैं।

साख से हानियाँ

उपरोक्त लाभों के साथ ही साख से कुछ हानियाँ भी हुई हैं अगर साख पर उचित रूप से नियंत्रण न रखा जाय तो साख का दुरुपयोग होने की सँभावना है। जैसे

अगर ऋण देने में विवेक से काम न लिया जाए और प्रार्थी के सम्बन्ध में बिना उचित जाँच किए ही अगर उसे ऋण दे दिया तो हो सकता है कि धन कुछ ऐसे व्यक्तियों के भी हाथ लग जाए जो इसे केवल व्यर्थ के

ऐसा होने से ऋण-ग्रस्तता बढ़ती है । ऋणी की हानि होती है और इस प्रकार हम कह सकते हैं कि देश पर भी इसका बुरा प्रभाव पड़ता है । इसके अतिरिक्त जैसा हमने पहिले बताया,साख और पूँजी में बहुत ही निकट सम्बन्ध है । अतः साख वृद्धि के साथ साथ पूँजीवाद की प्राधान्यता भी जार पकड़ती जा रही है । पूँजीवाद से उत्पन्न बुराइयाँ बढ़ती जा रही हैं और बड़े बड़े पूँजीपतियों ने सारे उद्योग धन्धों पर एक प्रकार से एकाधिपत्य जमा रखा है। जिससे छोटे धन्धे वालों को आगे बढ़ने का अवसर ही नहीं मिल पाता । इसके साथ ही एक बात और भी ध्यान में रखने योग्य है । चूंकि ऋण मिल जाने की सुविधाएँ हैं । अतः हो सकता है कि वह व्यक्ति जो और बातों की दृष्टि से व्यवसाय के लिए अधिक योग्य न हो, वह भी रुपया उधार लेकर उसमें फँसा बैठे और अन्त में सफलता न पाने पर न केवल स्वयं हानि का भागी बने बल्कि बैंकों को भी हानि पहुँचावे क्योंकि कुछ समय तक तो रुपया उधार लेकर वह अपनी आर्थिक स्थिति को साधारण जनता से छिपा ही सकता है यद्यपि उसकी अयोग्यता

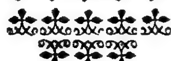
सदैव के लिए छिपी रहना सम्भव नहीं।

संक्षेप में, साख के लाभ और हानि पर दृष्टिपात करते हुए यह कहा जा सकता है कि साख की उपयोगिता इतनी अधिक है कि उसके बिना संसार का व्यवसाय तो चल ही नहीं सकता। इसके अतिरिक्त हम देखते हैं कि दिन प्रतिदिन के परिवारिक जीवन में भी साख का इतना महत्व बढ़ता जा रहा है कि उसके बिना एक दिन का कार्य तक दूभर मालूम होने लगता है। हमें अपने पड़ोसियों का विश्वास करना पड़ता है, उनकी सहायता करनी पड़ती है। जिसके बदले में वह हमारी सहायता करते हैं। श्रमजीवियों या अन्य कर्मचारियों को अपने मालिक की साख माननी पड़ती है। वह एक मास तक काम करते रहते हैं केवल इस विश्वास पर कि मास के अन्त में उनको अपने परिश्रम का पहिले से नियत किया हुआ वेतन अवश्य मिल जायगा। राज्य द्वारा द्रव्य रूप में नोटों का प्रचार किया जाता है, हम उन्हें बिना हिचक के स्वीकार कर लेते हैं। क्यों? इसलिए कि हमें विश्वास है कि जब हमें अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए अन्य वस्तुओं की आवश्यकता पड़ेगी तो वही नोट देकर हम मनोवाँछित वस्तुयें दूसरे से ले सकेंगे और यदि ऐसा न भी हुआ तो नोट के बदले राज्य से द्रव्य मुद्रा तो अवश्य ही पा सकेंगे वास्तव में साख का क्षेत्र बहुत ही विस्तृत है। वह हमारे जीवन के सभी क्षेत्रों को प्रभावित किये हुए हैं।

साख भेद और साख पत्र









साख की वृद्धि

साख के भेद

साख के साधन

सदैव चालू और

यात्री की साख

साख पत्र



परिच्छेद नौ



साख भेद और साख पत्र

पिछले अध्याय के पढ़ने से हमें यह भली भाँति ज्ञात हो गया है कि साख का क्या महत्व है और उसका किस प्रकार प्रारम्भ हुआ। यहाँ अब हम यह बताने की चेष्टा करेंगे कि साख का प्रयोग किस रूप में होता है या साख के क्या भेद हैं।

साख की वृद्धि

इसके पूर्व यह समझ लेना उचित है कि साख की वृद्धि किन किन बातों पर निर्भर है। पहिले लिखा जा चुका है कि विश्वास ही साख का मूल आधार है। लोगों में जितनी ही अधिक विश्वास और आत्मीयता की भावना जाग्रत होगी और जितना ही अधिक वह इस भावना का सदुपयोग करने का प्रयास करेंगे उतनी ही अधिक साख की वृद्धि होगी। साथ ही

यह भी सत्य है कि साख की उन्नति के लिये साख देने वाले में साख देने की इच्छा और शक्ति तथा साख पाने वाले में साख लेने की इच्छा और उसका उचित उपयोग करने की क्षमता होनी चाहिये। यहाँ इच्छा से हमारा प्रयोजन यह है कि अमुक व्यक्ति में स्वतः प्रेरणा हो जिससे प्रत्यक्ष उपभोग से बचा कर अधिक उत्पादनशील कार्यों में लगाने के लिए दूसरों को वह धन दे सके। ऐसी भावना की अनुपस्थिति में यदि किसी व्यक्ति के पास प्रचुर धन है तो वह उसका सदुपयोग न कर सकेगा, भले ही वह धन बेकार पड़ा रहे अथवा आमोद प्रमोद की बातों में व्यय किया जाए। इसी प्रकार मनुष्य में साख पाने की इच्छा होना भी आवश्यक है हम चाहे कितने ही योग्य और कार्यकुशल क्यों न हो—यदि हमारे पास धन नहीं है और न यह इच्छा है कि हम दूसरों से धन प्राप्त करके अपनी कार्य क्षमता का भरपूर लाभ उठावें तो सिवाय बेकार रहने के और कोई परिणाम न निकलेगा। साख देने अथवा लेने की इच्छा कई बातों पर निर्भर है। प्रथम, देश काल की स्थिति राजनैतिक, सामाजिक और आर्थिक दृष्टि से शान्तिमय होनी चाहिए तथा व्यापार और उद्योग धन्धे भी उन्नतोन्मुख होने चाहिए। इससे मनुष्य को अपने धन और अपनी समस्त शक्तियों से अधिक से अधिक लाभ उठाने का अवसर मिलता है और साथ ही यदि बैंक आदि की व्यवस्था अच्छी हुई तो धन उधार लेने और देने में

बड़ी सुविधा होती है । इस सम्बन्ध में मनुष्य का दूरदर्शी होना भी आवश्यक है । उसे न केवल अपनी वर्तमान आवश्यकताओं की ओर बल्कि भविष्य की ओर भी ध्यान देना चाहिए।

साख देने वाले की शक्ति से हमारा प्रयोजन यह है कि उस व्यक्ति की आर्थिक दशा ऐसी हो जिससे वह कुछ धन बचा सके । यह प्रायः मनुष्य की कार्य क्षमता उसकी आय और देश के प्राकृतिक साधनों पर निर्भर है। इन सब बातों में जितनी अधिक प्रचुरता होगी उतनी ही अधिक लोगों में बचाने की शक्ति होगी । अन्त में साख की वृद्धि साख पाने वाले की योग्यता पर निर्भर है । जो व्यक्ति शिक्षित है अनुभवी है और जिसमें साहस की शक्ति है वही साख का सदुपयोग कर सकेगा । यदि किसी व्यक्ति में यह गुण नहीं हैं और उसको साख की सुविधा मिल जाती है तो वह उसका दुरुपयोग करेगा जिससे साख को धक्का लगने का भय रहता है।

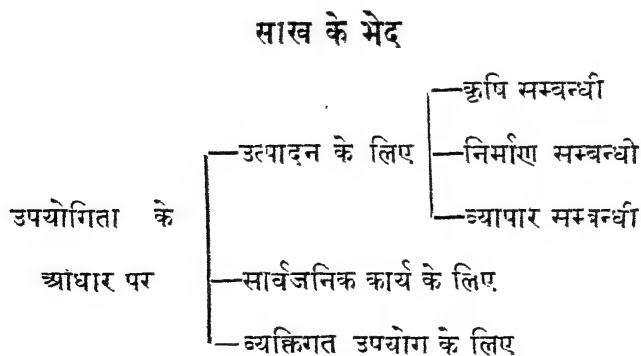
साख के भेद

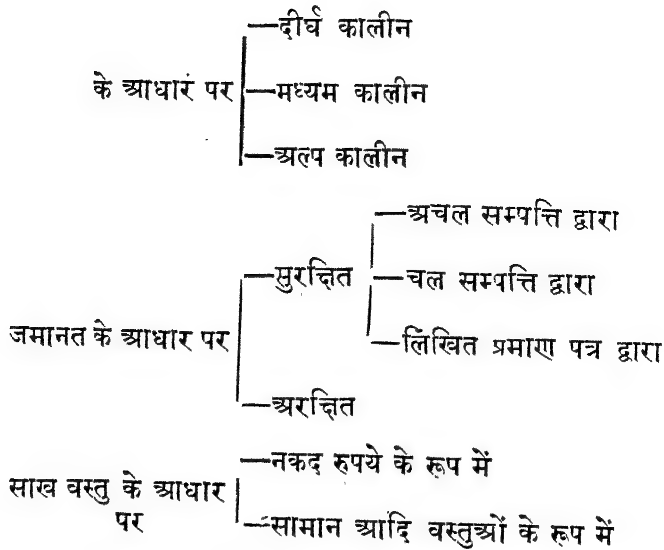
वर्तमान समय में साख की उपयोगिता इतनी अधिक बढ़ गई है कि उसका प्रयोग जीवन के सभी क्षेत्रों में होता है। कोई साख की सुविधा पाकर व्यापार की वृद्धि में अथवा किसी उद्योग धन्धे में लगता है तो कोई इस सुविधा से केवल अपना जीवन निर्वाह करता है । समय

की दृष्टि से हम देखते हैं कि बड़े बड़े उद्योगपति १०, १५ वर्ष तक के लिए साख की सुविधा ढूढ़ते हैं और सट्टेबाज केवल एक दो दिन या एक सप्ताह के लिए ही। व्यापारियों को १०,१५ वर्ष के लिए तो साख नहीं चाहिए किन्तु सट्टेबाज की भाँति एक दो दिन या एक सप्ताह की साख से भी उनका काम नहीं चलता। उनकी आवश्यकता की पूर्ति दो चार महीने की साख पाकर हो जाती है। यदि विश्वसनीयता की दृष्टि से देखे तो ज्ञात होता है कि कुछ प्रभावशाली या जान पहिचान वालों को बिना जमानत दिए रुपया उधार मिल जाता है और दूसरी ओर अधिकाँश लोगों को जमानत देने पर ही साख मिल पाती है। इसी प्रकार अगर कोई नकद रुपया उधार चाहता है तो कोई सामान उधार मोल लेना चाहता है। इस प्रकार अलग अलग दृष्टि कोण से देखने पर हमें साख के अनेक रूप दिखाई देंगे।

साख के विभिन्न भागों और रूपों का ज्ञान नीचे दिए चित्र से भली प्रकार हो सकता है :

साख के भेद





यद्यपि साख का उपर्युक्त वर्गीकरण समझने में स्पष्ट है फिर भी प्रत्येक वर्ग के विषय में अलग अलग संक्षिप्त विवरण देना अनुचित न होगा। सबसे पहले हमने साख का उपयोगिता के आधार पर विभाजन किया है। यहाँ उपयोगिता से हमारा आशय है उस कार्य से जिसके लिये साख का प्रयोग किया जाय। जैसे साख का प्रयोग सम्पत्ति उत्पादन के लिये कृषि, निर्माण अथवा व्यापार में हो सकता है। राज्य द्वारा सार्वजनिक समाजहित कार्य या राष्ट्र निर्माण के कार्यों में हो सकता है और किसी भी मनुष्य द्वारा अपने जीवन निर्वाह के लिये हो सकता है। उद्योगपति और व्यवसायी लोग साझेदारी और बड़ी बड़ी कम्पनियाँ स्थापित करके साधारण जनता से बैंकों

और साहूकारों से साख द्वारा पूँजी प्राप्त करते हैं। सरकार को साधारण जनता और बैंको से ऋण रूप में रुपया मिलता है जिसका उपयोग समस्त जनोपयोगी कार्यों में होता है। कम आय वाले लोग वस्तुएं उधार मोल लेकर या समय समय पर थोड़ा थोड़ा रुपया उधार लेकर अपना काम चलाते हैं।

समय की दृष्टि से साख को हमने तीन भागों में बाँटा है: दीर्घ, मध्यम और अल्प कालीन। दीर्घ कालीन साख की आवश्यकता बड़े बड़े उद्योगपतियों को पड़ती है क्योंकि उत्पादन के समस्त साधनों को एकत्र करने के बाद लाभ की दशा तक पहुँचने में बहुत समय लग जाता है इस बीच में उन्हें पर्याप्त पूँजी की आवश्यकता होती है। कारखाना के भवन निर्माण में बड़ी बड़ी मशीनें और कच्चा माल मोल लेने में तथा श्रमजीवियों को वेतन देने में बहुत अधिक व्यय पड़ता है। यही कारण है कि उन्हें दीर्घ काल के लिए अधिक से अधिक साख चाहिये। जैसा पहिले संकेत किया जा चुका है थोड़े वेतन वालों को, थोड़ी पूँजी वाले व्यवसाइयों को और प्रायः सट्टेबाजों को केवल अल्पकाल के लिये साख की आवश्यकता होती है। इसके अतिरिक्त कुछ मध्यमवर्ग के थोक व्यवसायी या उद्योग धन्धों में लगे लोगों को समयानुसार और अपने कार्य की मात्रा के अनुसार साख की चाह होती है।

जैसा पहिले लिखा जा चुका है, मनुष्य एक दूसरे का चाहे कितना भी विश्वास पात्र क्यों न हो बिना जमानत के

दूसरे की आर्थिक सहायता करने में कुछ न कुछ अवश्य हिचक जाता है। यही कारण है कि वर्तमान समय में जमानत साख का अनिवार्य अंग है। यह जमानत तीन प्रकार से दी जा सकती है। अचल सम्पत्ति जैसे मकान आदि की, चल सम्पत्ति सामान के रूप में और लिखित प्रमाण पत्रों द्वारा। जब इस प्रकार की कोई जमानत मिल जाती है तो साख देने वाले को किसी प्रकार की हानि का भय नहीं रहता। अतः उसकी साख सुरक्षित हो जाती है। कोई जमानत न मिलने से साख अरक्षित हो जाती है।

साख या आर्थिक सहायता न केवल रुपये के रूप में मिल सकती है किन्तु सामान या अन्य सम्पत्ति के रूप में भी। जैसे थोक व्यापारी अपने फुटकर बेचने वाले व्यापारियों को उधार सामान देते हैं और ४, ६ मास बाद रुपया वसूल कर लेते हैं। यह भी एक प्रकार की आर्थिक सहायता है।

साख के साधन

इस वर्गीकरण के अतिरिक्त साख का विभाजन हम एक और प्रकार से भी कर सकते हैं। हम जानते हैं कि वर्तमान समय में साख कई साधनों से मिलती है जैसे साहूकार, बैंक, सहकारी समितियाँ, भूमि-बंधक बैंक इत्यादि। परन्तु इन सबकी कार्यवाही का यहाँ विवरण देना विषयान्तर होगा अतएव हम केवल इतना ही कहेंगे कि इन सब में बैंक की साख का प्राधान्य है, यद्यपि लोगों को बैंक से थोड़े ही समय के लिये रुपया उधार मिल पाता है। यही कारण है कि हमारे

देश में बड़े बड़े उद्योग धन्धों को व्यक्तिगत रूप से साहूकारों पर निर्भर रहना पड़ता है। औद्योगिक उन्नति के लिये हमारे देश में साख की वृद्धि की बहुत अधिक आवश्यकता है।

सदैव चालू और यात्री की साख

यहाँ कुछ ऐसे शब्दों का परिचय प्राप्त कर लेना अनुचित न होगा। जिनका प्रयोग इस सम्बन्ध में बहुधा होता है जैसे 'यात्री की साख' और 'सदैव चालू साख'। यात्री की साख से आशय विदेश पर्यटन करने वालों को बैंक द्वारा दी गई साख से है। इसमें विदेश जाने वाला व्यक्ति अपने देश के किसी बैंक के पास रुपया जमा कर देता है और बैंक से एक पत्र प्राप्त कर लेता है जिसकी सहायता से उसे अन्य देश या देशों में अपने देश के बैंक की शाखाओं से धन पाने में सुविधा हो जाती है। इसी प्रकार 'सदैव चालू साख' उस साख को कहते हैं जिसके द्वारा पहिले एक निश्चित मात्रा में धन उधार मिलता है और जब वह ऋण चुका दिया जाता है तो पुनः बिना नया आवेदन दिये साख पाने वाला साह से उतनी ही साख पा सकता है। यही बात समय के विषय में भी कही जा सकती है। अगर पहिले किसी को ४, ५ मास के लिये साख दी गई और यदि इतने समय के बाद वह ऋण चुका दिया गया तो साख पुनः मिल सकती है।

साख पत्र

साख का प्रयोग विभिन्न रूपों में विभिन्न प्रकार के पत्रों द्वारा होता है। साख पत्र विभिन्न प्रकार के वह पत्र हैं जिनकी सहायता से साख का द्रव्य रूप में प्रयोग किया जा सके, जैसे चेक, बिल, हुन्डी, प्रो-नोट इत्यादि। इनका प्रचलन साख के ऊपर निर्भर है। किसी देश में जितनी ही अधिक साख की वृद्धि होगी उतना ही साख पत्रों का प्रयोग बढ़ेगा। विनिमय कार्य में इन साख पत्रों का उतना ही महत्व है जितना धातु या कागजी द्रव्य का। जैसा अन्यत्र संकेत किय जा चुका है विनिमय के बड़े बड़े लेन देन में इन साख पत्रों का प्रायः अधिक प्रयोग किया जाता है क्योंकि उनके द्वारा ऋण चुकाने में बड़ी सुविधा होती है। बहुधा प्रयोग किये जाने वाले प्रमुख साख पत्र चेक, बिल, हुन्डी, प्रो-नोट, ऋण स्वीकृति पत्र, सरकारी बाँड और बिल, बैंक की हुन्डी, डाकखाने के सर्टीफिकेट इत्यादि हैं। इन सबका यहाँ विस्तारपूर्वक अध्ययन करना स्थानाभाव और विषयान्तर होने के कारण उचित न होगा। इन सब साख पत्रों का विस्तृत विवरण बैङ्किंग के अन्तर्गत आता है। इसलिये यहाँ उनके विषय में केवल संक्षिप्त ज्ञान प्राप्त कर लेना ही पर्याप्त होगा।

चेक का प्रयोग बैंक की मध्यस्थता में होता है। जिन लोगों का बैंक में खाता होता है वह लोग अपने बैंक द्वारा दिये गये इन चेकों का प्रयोग करते हैं। चेक में उस व्यक्ति का नाम

लिख दिया जाता है जिसे द्रव्य मिलना होता है। फिर वह व्यक्ति बैंक को वह चेक दे देता है और उसके बदले बैंक उसे धातु या कागज़ी द्रव्य दे देता है। हुण्डी, प्रो-नोट और बिल का प्रयोग बड़े बड़े व्यापारी करते हैं। प्रो-नोट के द्वारा उनके लिखने वाला दूसरे व्यक्ति को जिसका नाम पत्र में लिखा होता है यह वचन देता है कि एक निश्चित समय के बाद वह अपना ऋण चुका देगा। बिल अथवा हुण्डी साहूकार द्वारा उस व्यक्ति के नाम एक अदेश रूप में लिखी जाती है जिससे द्रव्य मिलना होता है। लिखने वाला यह आदेश देता है कि एक निश्चित समय के बाद उस बिल अथवा हुन्डी का मूल्य उसमें निर्दिष्ट किये गये ढंग से चुका दिया जाय। ऋण-स्वीकृति पत्र में ऋणी व्यक्ति केवल अपना ऋण स्वीकार करता है। ऋण की रकम भी लिखी होती है। इन साख पत्रों के अतिरिक्त सरकार द्वारा विशेष रूप से कुछ साख पत्र चलाये जाते हैं। जिनमें बाँड, प्रो-नोट और ट्रेजरी बिल प्रमुख हैं। उसकी विश्वसनीयता सबसे अधिक मानी जाती है। सर्वसाधारण को यह पत्र सरकार को ऋण इत्यादि के रूप में द्रव्य देने पर प्राप्त होते हैं और फिर एक निश्चित समय के बाद उनका भुगतान सरकार द्वारा किया जाता है। सरकार की साख में किसी को भी संदेह नहीं होता है अतः इन साख पत्रों का प्रचार भी बहुतायत से होता है। इसी प्रकार से डाकखाने से भी नकद द्रव्य जमा करके सर्टीफिकेट मिल जाते हैं और निश्चित समय

के बाद उनका भुगतान किया जाता है। बैंक एक स्थान से दूसरे स्थान द्रव्य को स्थानान्तरित करने के लिये ड्राफ्ट या हुण्डी देते हैं और विदेश जाने वालों को यात्री-साख-पत्र देते हैं जिनकी सहायता से यात्रियों को विदेश स्थित बैंक की साखाओं से द्रव्य सरलतापूर्वक मिल जाता है।

किसी भी देश की औद्योगिक या व्यापारिक उन्नति के लिये इन सभी प्रकार के साख पत्रों का प्रचलन अधिकाधिक बढ़ना वांछनीय और आवश्यक है। साख पत्रों के प्रयोग से बड़े बड़े लेन देन सुगमता से हो जाते हैं और साथ ही धातु और कागजी राज्य द्रव्य में अन्यतः होने वाले व्यय की बचत होती है। साख की उन्नतिके लिये सर्वसाधारण का शिक्षित होना अत्यन्त आवश्यक है। इस सम्बन्ध में यह बात भी ध्यान देने योग्य है कि साख पर नियंत्रण या प्रतिबन्ध रक्खा जाय। साख की सुविधा केवल उन्हीं लोगों को मिलनी चाहिये जो उसका सदुपयोग कर सकें अन्यथा साख का दुरपयोग होने से सारे समाज का अहित होता है।





द्रव्य का चलन

या

ग्रेशम नियम



परिच्छेद दस



द्रव्य का चलन या ग्रेशम नियम

अभी तक हमने यह अध्ययन किया है कि द्रव्य के क्य कार्य हैं और वह कितने प्रकार का होता है। अब हम यह जानने का प्रयत्न करेंगे कि उसका वास्तविक प्रयोग कैसे होता है।

ग्रेशम नियम

द्रव्य के वास्तविक प्रयोग क बहुत प्रसिद्ध सिद्धान्त ग्रेशम का नियम है। इस नियम के अनुसार यदि हीन और उत्तम द्रव्य एक साथ चालू किये जांय तो हीन द्रव्य का वास्तविक प्रयोग अधिक होता है और उत्तम द्रव्य उसकी तुलना में विलीन सा हो जाता है। दूसरे शब्दों में यदि एक ही धातु और समान मूल्य की हीन और उत्तम मुद्रायें चलाई जांय तो उत्तम मुद्राओं की अपेक्षा हीन मुद्राओं का ही

प्रयोग अधिक होता है और उत्तम मुद्रायें नहीं के बराबर प्रचलन में दिखाई पड़ती हैं।

इस नियम का नामकरण टामस ग्रेशम नामक एक व्यापारी के नाम पर हुआ जो इङ्गलैंड की महारानी एलिजाबेथ का आर्थिक समस्याओं में सलाहकार था। कुछ लोगों के मतानुसार इस नियम को टामस ग्रेशम के पहिले भी लोग जानते थे और ग्रेशम को इस नियम के प्रवर्तन का श्रेय अनायास ही मिल गया है। कुछ भी हो ग्रेशम के समय इङ्गलैंड में जो द्रव्य सम्बन्धी संकट उठ खड़ा हुआ था उसे हल करने में अर्थशास्त्री लोग जो भूल कर रहे थे उसकी ओर संकेत करके ग्रेशम ने जिस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया वह भले ही नया न रहा हो, किन्तु पहिले वह इतना स्पष्ट अवश्य नहीं था। ग्रेशम ने उसे स्पष्ट रूप से महारानी एलिजाबेथ के सम्मुख रखा और इसलिए उसे इस नियम का श्रेय मिलना अनुचित नही कहा जा सकता।

नियम की उत्पत्ति

महारानी एलिजाबेथ के समय जिन परिस्थितियों में इस नियम का स्पष्टीकरण हुआ था उन परिस्थितियों को जान लेने से हमें यह नियम समझने में सरलता रहेगी। उस समय के पहिले जो मुद्रा बनती थी वह हाथ से ही कारीगर लोग ठोंक पीटकर तैयार करते थे। उसके आकार प्रकार और गोलाई में इतनी अपूर्णता थी कि मुद्रा में से कुछ द्रव्य कुतर लेना बड़ा

ही सरल हो गया था। इसलिए एक ही मूल्य की सभी मुद्राएँ धातुरूप में समान नहीं थीं। इसी बीच मुद्रा ढालने की एक मशीन का आविष्कार हुआ और उसके द्वारा तैयार की हुई मुद्राओं में आकार प्रकार की इतनी पूर्णता आ गई कि सरलता से उन्हें कुतर लेना सम्भव नहीं था। महारानी की इच्छा थी कि घिसी हुई और कुतरी हुई पुरानी मुद्राओं के स्थान पर उन नई और उत्तम मुद्राओं का प्रचार किया जाय। महारानी और उस समय के अर्थशास्त्रियों का यह विश्वास था कि लोग धीरे धीरे नई मुद्राओं का प्रयोग करने लगेंगे और पुरानी हीन मुद्रायें अपने आप हट जावेंगी। परन्तु यह अनुमान वास्तविकता से कोसों दूर रहा। टकसाल चलती रही, असंख्य मुद्रायें प्रचलित की गईं किन्तु नई मुद्राओं के दर्शन बाजार में यदा कदा ही हो पाते थे। सरकारी खजाने के विषय में कहा जाता है कि १०० पौंड में अधिक से अधिक १० शिलिंग की नई मुद्रायें आती थीं। परन्तु इतनी मुद्रा सब चली कहाँ जाती थी? यही आश्चर्य उस समय के अर्थशास्त्रियों को भी था और जिसके स्पष्टीकरण के लिए ग्रेशम का यह नियम हमारे सम्मुख आया।

नियम का स्पष्टीकरण

वास्तव में बात बहुत ही साधारण थी जो एक साधारण बुद्धि वाला व्यक्ति भी समझ सकता है। यदि किसी व्यक्ति को ऋण चुकाने के लिये समान मूल्यवाली हीन या उत्तम

प्रकार की मुद्रायें देने की स्वतंत्रता हो तो यह कैसे सम्भव था कि वह देते समय हीन मुद्रा न देकर उत्तम मुद्रा देता ? दूसरी ओर उत्तम मुद्रा का मूल्य द्रव्य रूप में उसी देश में अथवा समुद्र पार अन्य देशों में पुरानी मुद्रा की तुलना में कहीं अधिक था। अतः यह स्वाभाविक ही था कि लेन देन में लोग पुरानी मुद्रा का व्यवहार करते (क्योंकि नई मुद्रा देने पर भी उतना ही मूल्य होता) और नई मुद्रा को गलाकर उसका धातुरूप में व्यवहार करते अथवा विदेश भेज देते । संग्रह करने के सम्बन्ध में भी यह सभी जानते हैं कि लोग उत्तम मुद्रा का ही संचय करेंगे और हीन मुद्रा का प्रयोग लेन देन में करेंगे। अब इस बात में कोई आश्चर्य नहीं है कि उत्तम मुद्रायें विलीन क्यों हो गईं और हीन मुद्राओं का ही प्रयोग क्यों होता रहा। यह मनोविज्ञान की बात थी जिसका अनुमान लोगों को इस अनुभव के वाद हुआ।

इस ऐतिहासिक घटना में जो कुछ हुआ उसी का सार लेकर ग्रेशम के नियम की परिभाषा बनी है। उसे हम इस प्रकार कह सकते हैं कि 'यदि देश में दो प्रकार की मुद्राएँ एक ही मूल्य पर प्रचलित हों और उन दोनों की उत्तमता में अन्तर हो तो हीन मुद्राएं उत्तम मुद्राओं को प्रचलन से बाहर कर देती हैं और उत्तम मुद्राएं हीन मुद्राओं को नहीं हटा पातीं'। ग्रेशम का यह नियम मुद्राओं के ही सम्बन्ध में नहीं अन्य प्रकार के द्रव्य के सम्बन्ध में भी उतना ही खरा

उतरता है। इसीलिए मुद्रा के स्थान में हम 'द्रव्य' शब्द का प्रयोग करें तो अधिक सत्य होगा। अतः थोड़े में हम यह कह सकते हैं कि "हीन द्रव्य उत्तम द्रव्य को प्रचलन से हटा देता है।" अब हम देखेंगे कि अन्य परिस्थितियों में यह नियम किस प्रकार लागू होता है।

ऊपर हम जिस उदाहरण को देख चुके हैं उसमें एक ही धातु की दो मुद्राओं का प्रश्न था किन्तु यदि विभिन्न धातुओं की मुद्राएँ एक ही मूल्य पर प्रचलित की जाय और यदि धातु रूप में दोनों के मूल्य में अन्तर हो तो भी धातु रूप में कम मूल्यवाली मुद्राएँ अधिक मूल्यवान मुद्राओं को प्रचलन से हटा देंगी। यही नहीं यदि दो ऐसी धातुओं की मुद्राएँ प्रचलित की जाती हैं जिनके मूल्य में अन्तर होता है और इस अन्तर के प्रभाव को दूर करने के लिए उन्हें एक ही मूल्य पर प्रचलित न करके मूल्य के आधार पर उनके बीच एक निश्चित अनुपात निर्धारित कर दिया जाता है, फिर भी यह नियम लग जाता है। उदाहरण के लिए हम मान लें कि सोने और चाँदी की एक ही आकार की मुद्राएं प्रचलित की जाती हैं और सोना चाँदी से ५० गुना अधिक मूल्यवान हैं तो चाँदीकी ५० मुद्राओं का मूल्य सोने की एक मुद्रा के समान होगा। कुछ समय बाद बाजार में सोने का भाव इतना बढ़ जाता है कि एक मुद्रा में जितना सोना होता है उतना बाजार में ५१ चाँदी की मुद्राओं के बदले में मिलने लगता है तो प्रत्येक चतुर व्यक्ति सोने

की मुद्रा को द्रव्य रूप में ५० चाँदी की मुद्राओं के बदले में देने के स्थान पर उसे गलाकर धातु रूप में उसके बदले ५१ चाँदी की मुद्राएँ लेना ठीक समझेगा। इसी प्रकार यदि चाँदी का मूल्य बढ़ जावे तो चाँदी की मुद्रा बाजार से लुप्त हो जावेगी। फ्रांस आदि देश में जहाँ द्विधातुमान का प्रयोग किया गया वहाँ इस बात का अनुभव हुआ कि सोना और चाँदी के मूल्य में उतार चढ़ाव के कारण कभी केवल सोने की और कभी केवल चाँदी की ही मुद्रायें बाजार में प्रचलित रह जातीं थीं। इस प्रकार द्विधातुमान केवल नाम का द्विधातुमान था। वास्तव में ग्रेशम नियम के कारण वह बारी-बारी से चलने वाला एक धातु मान ही रह गया था।

विभिन्न प्रकार की मुद्राओं के सम्बन्ध में ही नहीं ग्रेशम का नियम वहाँ भी लागू होता है जहाँ धातु मुद्रा और कागज के नोट साथ साथ प्रचलित होते हैं। परन्तु यह नियम उन्हीं नोटों के सम्बन्ध में लागू होता है जो असीम कानूनी द्रव्य होते हुए भी अपरिवर्तनीय होते हैं। लोग धातु की मुद्रा का संग्रह करने लगते और लेन देन में कागज के नोटों का व्यवहार करते हैं। इस परिस्थिति का उदाहरण तो स्वयं हमारे देश में मिल सकता है। युद्ध के समय जब एक और दो रुपये के अपरिवर्तनीय नोट प्रचलित किए गए तो चाँदी वाला रुपया प्रयोग से धीरे धीरे लुप्त हो गया था। इस प्रकार हम देखते हैं कि धातु मुद्रा जो कागजी नोटों की तुलना में उत्तम द्रव्य समझा

जाता है, बाजार से लुप्त हो जाता है और कागजी नोट प्रचलित रह जाते हैं।

नियम के अपवाद

१—प्रत्येक देश में किसी भी समय औद्योगिक तथा व्यापारिक कार्यों को सुचारु रूप से चलाने के लिए द्रव्य की एक विशेष मात्रा आवश्यक होती है। यदि कुल प्रचलित द्रव्य, हीन तथा उत्तम दोनों मिलाकर आवश्यक मात्रा से कम होते हैं अथवा बराबर होते हैं तो ऐसी परिस्थिति में ग्रेशम का नियम लागू नहीं होता है। इसका कारण यह है कि यदि द्रव्य की कुल मात्रा आवश्यकता से कम है तो द्रव्य की बाजार में बहुत मांग होगी और इस प्रकार उत्तम द्रव्य की द्रव्य रूप में ही इतनी अधिक उपयोगिता होगी कि उसकी तुलना में उसे गलाकर धातु रूप में उसका प्रयोग करना उचित नहीं होगा। इसके अतिरिक्त ऐसी स्थिति में लोग द्रव्य का निरर्थक संग्रह भी नहीं कर सकते क्योंकि उस समय बैंक में अच्छे व्याज पर रुपया जमा किया जा सकता है अथवा सरकारी ऋण पत्र खरीदे जा सकते हैं जिससे सुरक्षित संग्रह के साथ ही कुछ लाभ की भी आशा होगी। इस प्रकार बैंक या सरकारी खजाने में आया हुआ उत्तम द्रव्य भुगतान के द्वारा फिर प्रचलित हो जाता है।

२—यदि हीन मुद्रा प्रमाणिक मुद्रा न होकर केवल सांकेतिक मुद्रा है (इस प्रकार की मुद्रा सीमित मात्रा में ही देय होती

है) तो देने वाले की इच्छा होते हुए भी हीन मुद्रा एक निश्चित मात्रा से अधिक होने पर अस्वीकार की जा सकती है। इस कारण देने वाले को वाध्य होकर उत्तम मुद्रा देनी ही पड़ेगी। दूसरी बात यह है कि सांकेतिक मुद्रा का निर्माण भी निर्वाध नहीं होता है। सरकार के हाथ में मुद्रा निर्माण होने के कारण उसकी मात्रा पर सरकार इस प्रकार नियंत्रण रखती है कि वह आवश्यकता से अधिक नहीं होने पाती। साथ ही यदि उत्तम मुद्रा भी सांकेतिक मुद्रा हुई तो उसके गलाने में कोई लाभ भी न होगा क्योंकि सांकेतिक मुद्रा का मूल्य उसके धातु मूल्य से अधिक रखा जाता है इसलिए इस प्रकार की मुद्रा का द्रव्य रूप में धातुरूप की तुलना में अधिक मूल्य होगा अतः सब लोग उसे द्रव्य रूप में प्रयोग करना ही अधिक उचित समझेंगे।

३— जब किसी देश में पहिले उत्तम द्रव्य प्रचलित होता है और उसके बाद सरकार हीन द्रव्य को भी उसके साथ ही चलाना चाहती है किन्तु जन साधारण उसके प्रयोग का इतना विरोध करते हैं कि सरकार उसे राजदंड के बल पर भी चलाने में समर्थ नहीं होती तो उस अवस्था में नियम लागू नहीं होगा। ऐसी परिस्थिति में हीन द्रव्य स्वयं हट जाता है और केवल उत्तम द्रव्य ही प्रचलित रहता है।

विशेष प्रकार की परिस्थितियों में ही लागू हो सकने के कारण इस शताब्दी के प्रारम्भ में द्विधातुमान का

अन्त होने के बाद इस नियम के लागू होने के केवल दो अवसर विश्वयुद्ध के समय आये। युद्धकाल में प्रायः प्रत्येक देश ने अपरिवर्तनीय कागजी द्रव्य का प्रचलन किया जो धातु द्रव्य की तुलना में हीन था और धातुद्रव्य इसीलिए बाजार से प्रायः लुप्त हो गया। युद्धकाल के अतिरिक्त केवल एक ही धातु की प्रमाणिक मुद्रायें प्रचलित रहीं और जो नोट प्रचलित किये गये वे पूर्ण रूप से परिवर्तनीय थे। इस कारण केवल उत्तम द्रव्य के प्रचलित रहने के कारण ग्रेशम नियम के लागू होने का कोई अवसर ही नहीं आया।

लुप्त हुये द्रव्य का उपयोग

अन्त में दो शब्द उस उत्तम द्रव्य के विषय में भी कह देना उपयुक्त होगा जो हीन द्रव्य की तुलना में प्रायः विलीन सा हो जाता है यह द्रव्य तीन प्रकार से प्रयोग में लाया जा सकता है। एक उपाय यह है कि लोग उसे गलाकर धातुरूप में प्रयोग करें यदि इस प्रकार उन्हें अधिक मूल्य मिल जाता है। दूसरा प्रयोग धातु या द्रव्य रूप में विदेश भेजकर हो सकता है यदि वहाँ उसका मूल्य अधिक है या वह द्रव्य रूप में मान्य है। तीसरा उपाय यह भी है कि लोग उत्ताम द्रव्य को कुछ समय तक रक्खे रहें और उसका प्रयोग उस समय करें जब उन्हें उसका मूल्य अधिक मिले अथवा उसकी उपयोगिता (धातु या द्रव्य की कमी के कारण) अधिक हो।

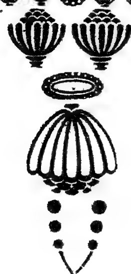




द्रव्य का मूल्य

या

परिमाण सिद्धान्त



द्रव्य का मूल्य

द्रव्य का परिमाण सिद्धान्त

परिमाण सिद्धान्त की आलोचना



परिच्छेद ग्यारह



द्रव्य का मूल्य या परिमाण सिद्धान्त

जब हम किसी वस्तु का मूल्य नापना चाहते हैं तो द्रव्य का प्रयोग करते हैं अर्थात् किसी वस्तु के लिए जितना द्रव्य दिया जाय वही उसका मूल्य माना जाता है। परन्तु यदि हमें स्वयं द्रव्य का मूल्य ज्ञात करना हो तो हम कौन सा उपाय प्रयोग करें? क्योंकि पहिले कहा जा चुका है कि द्रव्य अन्य वस्तुओं का मूल्य नापने के लिए सर्वमान्य माप-दंड है। इस कारण लोगों में द्रव्य का मूल्य जानने की इच्छा स्वतः उठ सकती है। इसलिये अब हम यह बताने की चेष्टा करेंगे कि द्रव्य का मूल्य कैसे जाना जा सकता है।

द्रव्य का मूल्य

आजकल प्रायः सुनने में आता है कि द्रव्य का मूल्य गिर गया है। इसका स्पष्टीकरण करते हुए लोग कहते हैं कि वस्तुओं

के दाम इतने बढ़ गये हैं कि द्रव्य की एक इकाई के लिये किसी वस्तुकी जितनी मात्रा पहिले मिलती थी उतनी अब नहीं मिलती है अतः यह सिद्ध होता है कि द्रव्य का मूल्य गिर गया है। बात वास्तव में ठीक भी है। अर्थशास्त्र की भाषा में हम कह सकते हैं कि मूल्यस्तर बढ़ जाने से द्रव्य की क्रय-शक्ति कम हो गई है। माना युद्ध के पूर्व भारत में एक रुपये के बदले हमें १५ सेर गेहूँ मिलता था और अब केवल ३ सेर मिलता है तो इससे यह स्पष्ट है कि रुपये का मूल्य या उसकी क्रय शक्ति घट कर केवल १/५ रह गई है और जहाँ तक इस वस्तु गेहूँ का सम्बन्ध है उसका मूल्य पहले की अपेक्षा पाँच गुना अधिक हो गया है। द्रव्य का मूल्य जानने का यह साधारण एवं अत्यन्त सरल ढंग एक वैज्ञानिक दृष्टि से भी ठीक है क्योंकि यह सत्य है कि वस्तुओं और मूल्यस्तर में और द्रव्य के मूल्य में उलटा सम्बन्ध है। जब मूल्यस्तर बढ़ता है तो द्रव्य का मूल्य घटता है और जब मूल्यस्तर घटता है तो द्रव्य का मूल्य बढ़ता है। यह बात समझने में भी बहुत ही स्पष्ट है। मूल्यस्तर बढ़ने का अर्थ यह हुआ कि किसी वस्तु की एक निश्चित मात्रा के लिए अब पहिले से अधिक द्रव्य देना पड़ता है तो ऐसी दशा में यह ठीक ही है कि द्रव्य का मूल्य कम हो गया है। इसी प्रकार मूल्यस्तर घटने पर यदि किसी वस्तु के लिये अब पहिले से कम द्रव्य देना पड़े तो द्रव्य के मूल्य में वृद्धि समझना भी ठीक है।

इस सम्बन्ध में हमें एक बात और भी ध्यान में रखनी चाहिये। किसी वस्तु का मूल्य उसकी उपयोगिता पर निर्भर है। कपड़ा, अन्न तथा इस प्रकार की अन्य वस्तुओं का मूल्य उनकी उपयोगिता के कारण है। उनकी सहायता से हम अपनी आवश्यकतायें भली प्रकार पूरी कर सकते हैं अतः उनका मूल्य उनकी इस विशेषता के कारण है कि उन्हें हर एक मनुष्य सदैव अपनी आवश्यकताओं को पूरा करने के लिये चाहता है। परन्तु द्रव्य में यह विशेषता दूसरे प्रकार की है। उसमें वह गुण नहीं है जो कपड़ा या अन्न में है। द्रव्य की उपयोगिता उसकी विनिमय शक्ति या क्रय-शक्ति पर निर्भर है। अगर अपने देश में रुपये का द्रव्य रुप में मूल्य बन्द कर दिया जाय और यदि बिना उसकी सहायता के हमें अन्य वस्तुयें में सुलभ हो जाँय तो रुपये का मूल्य गिरकर शून्य ही हो जायगा। क्योंकि द्रव्य की स्वयं कोई उपयोगिता नहीं हैं। उसकी उपयोगिता उसकी क्रय-शक्ति है। जितनी ही अधिक मात्रा में अन्य वस्तुऐं द्रव्य की एक इकाई के बदले हमें मिल सकेंगी उतनी ही द्रव्य की क्रय-शक्ति अधिक होगी और उतना ही अधिक उसका मूल्य होगा। इसके विपरीत यदि अन्य वस्तुऐं कम मिलतीं हैं तो द्रव्य का मूल्य कम समझना चाहिए।

द्रव्य का परिमाण सिद्धान्त

अर्थशास्त्र का एक प्रारम्भिक नियम है कि किसी वस्तु

का मूल्य उसकी माँग और पूर्ति पर निर्भर है। यदि माँग की अपेक्षा पूर्ति अधिक हुई तो मूल्य घटता है और यदि पूर्ति की अपेक्षा माँग अधिक हुई तो मूल्य बढ़ता है। द्रव्य का परिमाण सिद्धान्त इस माँग-पूर्ति के सिद्धान्त पर आधारित है। इस परिमाण सिद्धान्त के अनुसार यदि किसी समय द्रव्य की मांग की तुलना में प्रयोग में चलने वाली पूर्ति अर्थात् प्रस्तुत मात्रा अधिक हुई तो द्रव्य का मूल्य घट जाता है और यदि यह मात्रा कम हुई तो मूल्य बढ़ जाता है। बात साधारण है। यदि किसी वस्तु की अधिकता है और लोगों को उसकी आवश्यकता कम है तो स्वाभाविक रूप से उसका महत्व कम हो जाता है। इसके विपरीत यदि वह वस्तु आवश्यकता से कम मात्रा में उपलब्ध है तो उसका मूल्य बढ़ना भी स्वाभाविक है।

अब हमें देखना यह है कि द्रव्य की प्रस्तुत मात्रा और मांग किस प्रकार निश्चित हो सकती हैं। द्रव्य की प्रस्तुत मात्रा से हमारा अर्थ द्रव्य की उस समस्त मात्रा से है जिसका प्रयोग सम्पूर्ण समाज विनिमय कार्य में करे। पहिले बताया गया है कि मुद्रा और नोटों के रूप में सरकार द्वारा द्रव्य का प्रचलन किया जाता है और इसके अतिरिक्त बैंक जसी संस्थाओं द्वारा साख द्रव्य जैसे चेक आदि का प्रचलन होता है। इस सम्बन्ध में हमें यह याद रखना होगा कि जितना द्रव्य सरकार की ओर से प्रचलित किया जाता है वह सबका सब खरीद बिक्री में भाग नहीं लेता है। हमारे देश में द्रव्य को गाड़ करके रखने

की प्रथा आज़ तक प्रचलित है। चाँदी के रुपए और अठन्नियाँ हार बना कर पहिनने की भी प्रथा है। इस प्रकार बहुत सा द्रव्य व्यवहार से बाहर हो जाता है।

बहुत सी रुपया वाली मुद्राएँ मन्दिर के आँगन में जड़ दी जाती हैं और कुछ कम मूल्य की मुद्राएँ गंगा आदि नदियों में पूजा के हेतु फेंक दी जाती हैं। इस प्रकार बहुत सा द्रव्य प्रचलन की झंझट से मुक्ति पा जाता है। कागज के नोटों को यदि द्रव्य के अतिरिक्त अन्य प्रयोग के द्वारा प्रचलन से बाहर नहीं किया जा सकता हो प्रतिवर्ष पानी आदि के कारण कुछ कागजी द्रव्य सदैव के लिए अवश्य नष्ट हो जाता है। इस प्रकार व्यवहार से बाहर किये गये अथवा नष्ट हुए द्रव्य की गणना प्रस्तुत द्रव्य के साथ करना उचित नहीं होगा क्योंकि विनिमय कार्य में उसका प्रयोग नहीं होती है।

राज द्रव्य और साख द्रव्य दोनों प्रकार के द्रव्य की कुल मात्रा के अतिरिक्त एक महत्व मात्रा पूर्ण बात और है जिसका द्रव्य की प्रस्तुत मात्रा के बढ़ने घटने पर बहुत प्रभाव पड़ता है। इस बातको हम एक उदाहरण द्वारा समझ सकते हैं। माना कि एक वार हम एक तालाब का पानी निकलने के लिए दस ऐसे आदमी लगावें जो केवल एक वार पानी निकाल कर डाल दें और फिर काम बन्द कर दें। दूसरी वार यदि उन्हीं आदमियों से पाँच पाँच वार पानी निकलने को कहा जाय तो हम देखेंगे कि यद्यपि स्थूल रूप में आदमियों की संख्या दस

ही रही किन्तु वास्तव में पहिली वार दस आदमियों ने दस का और दूसरी बार दस आदमियों ने पचास का काम किया। द्रव्य के सम्बन्ध में भी बिलकुल यही सिद्ध होता है। कुछ रुपये, नोट, हुंडी अथवा चेक आदि केवल एक या दो वार खरीद बिक्रा में भाग लेकर निश्चेष्ट हो जाते हैं जब कि कुछ निरन्तर एक हाथ से दूसरे हाथ में आया जाया करते हैं। इस प्रकार एक रुपया अनेक वार खरीद बिक्री में भाग लेकर अनेक रुपयों का काम करने में समथ होता है। इसलिए द्रव्य की प्रस्तुत मात्रा की गणना में केवल द्रव्य की स्थूल मात्रा का ही नहीं बल्कि उस के वेग (जिस वेग से वह एक हाथसे दूसरे हाथमें आता जाता है अर्थात् जितने वार वह विनिमय कार्य में भाग लेता है) का भी ध्यान रखना आवश्यक है। इस प्रकार द्रव्य की स्थूल मात्रा और द्रव्य की गति का गुणा करने से हम द्रव्य की प्रस्तुत मात्रा जान सकते हैं।

अब दूसरा प्रश्न है कि द्रव्य की माँग का क्या अर्थ है ? द्रव्य की माँग का वह अथ नहीं है जो अन्य वस्तुओं की माँग से बोध होता है। अन्य वस्तुओं की माँग उपभोग के लिए होती है। परन्तु जैसा पहिले बताया गया है द्रव्य ऐसी वस्तु नहीं है जिसका अन्य वस्तुओं की भाँति उपभोग हो सके। द्रव्य की आवश्यकता लोगों को इसलिए होती है कि वह विनिमय के माध्यम का कार्य करके उनके लिए ऐसी सुविधा उपस्थित कर दे कि वे अपनी बनाई वस्तु या सेवा के बदले दूसरे की

बनाई वस्तु या सेवा प्राप्त कर सकें। किसी भी समाज में इस प्रकार उतने ही द्रव्य की माँग होती है जितने मूल्य की वस्तुओं और सेवाओं का विनिमय आवश्यक है। समाज के सब लोग जितना उत्पादन करते हैं वह सब मिलाकर द्रव्य की माँग नापने का एक साधन हो सकता है। परन्तु हम जानते हैं कि उत्पादन का कुछ भाग उत्पादक स्वयं अपने उपभोग के लिए रख लेते हैं जिससे वह भाग विनिमय के लिए कभी आता ही नहीं। इसके अतिरिक्त कुछ वस्तुओं का विनिमय वस्तुओं के ही द्वारा हो जाता है अतः उनके लिये द्रव्य की आवश्यकता ही नहीं पड़ती। इन दोनों बातों के उदाहरण हमारे देश के देहाती क्षेत्रों में मिल सकते हैं। किसान लोग अपने द्वारा उपजाए हुए अन्न का बहुत बड़ा भाग स्वयं अपने भोजन के लिए रख लेते हैं। गावों में अब भी बहुत सी सेवाएँ ऐसी हैं (जैसे कुम्हार, धोबी और नाई आदि की सेवाएँ) जिनके लिए रुपया न देकर अनाज ही दिया जाता है। इस प्रकार देश की सेवाओं तथा वस्तुओं का वह अंश जिसके विनिमय में द्रव्य की आवश्यकता नहीं पड़ती वह द्रव्य की माँग में सम्मिलित नहीं हो सकता है। उत्पादन तथा सेवाओं का केवल वह अंश द्रव्य की माँग में आता है जो एक हाथ से दूसरे हाथ में द्रव्य के माध्यम द्वारा ही पहुँच सकता है।

प्रस्तुत मात्रा की भाँति माँग की दिशा में भी केवल उत्पादन और सेवाओं की मात्रा से ही हमें वास्तविक

माँग का ज्ञान नहीं हो सकता। कुछ वस्तुएँ एक बार विनिमय क्षेत्र में आकर उपभोक्ता के हाथ में पहुँच जाती हैं और कुछ उपभोक्ता के हाथ पहुँचने तक अनेक हाथ बदलती हैं। इसलिए माँग के निश्चय करने में द्रव्य के मध्यम से विनिमय होने वाली वस्तुओं तथा सेवाओं के साथ ही उनके विनिमय के वेग का ध्यान रखना भी आवश्यक है। द्रव्य के माध्यम से वस्तुओं तथा सेवाओं के विनिमय की कुल मात्रा को हम व्यापार का नाम दे सकते हैं। इसके बाद हमें इस व्यापार के मूल्य का ज्ञान होना भी आवश्यक है क्योंकि किसी स्थान पर द्रव्य की माँग वहां के व्यापार के मूल्य के बराबर होती है। अतः व्यापार की मात्रा में वस्तुओं के भाव का गुणा करने से जा गुणनफल आवेगा वह द्रव्य की माँग के बराबर होगा।

इस बात को बीजगणित के ढंग पर संक्षेप में समझाने के लिए हम कह सकते हैं कि द्रव्य की प्रस्तुत मात्रा = राज द्रव्य × वेग + साख द्रव्य × वेग और माँग = भाव × व्यापार इसे सांकेतिक रूप में इस प्रकार लिखा जा सकता है:

द्र = राज द्रव्य की स्थूल मात्रा

$द्र^1$ = साख द्रव्य की स्थूल मात्रा

वे = जिस वेग से राज द्रव्य प्रयोग में चलता है

$वे^1$ = जिस वेग से साख द्रव्य प्रयोग में चलता है

भा = वस्तुओं का प्रचलित भाव

व्या = वस्तुओं का कुल विनिमय अर्थात् व्यापार

द्रव्य का स्थायी मूल्य जानने के लिये प्रस्तुत मात्रा तथा मांग के बराबर होने की बात समीकरण के रूप में इस प्रकार लिखी जा सकती है:

$$\text{द्र} \times \text{वे} + \text{द्र}^{1} \times \text{वे}^{1} = \text{भा} \times \text{व्या}$$

$$\text{या} \quad \text{भा} = \frac{\text{द्र} \times \text{वे} + \text{द्र}^{1} \times \text{वे}^{1}}{\text{व्या}}$$

उपर्युक्त समीकरण का प्रयोग तथ्य रूपमें जान स्टुअर्ट मिल ने और अधिक विस्तृत रूप में फिशर महोदय ने किया था।

अब हम देखगे कि परिमाण सिद्धान्त के विवेचन में इस समीकरण का क्या स्थान है। परिभाषा रूप में परिमाण सिद्धान्त को हम इस प्रकार कह सकते हैं कि यदि अन्य किसी बात में परिवर्तन न हो तो द्रव्य के परिणाम में परिवर्त्तन का उसके मूल्य पर अवश्य प्रभाव पड़ता है अर्थात यदि द्रव्य का परिमाण कम कर दिया जाय तो द्रव्य का मूल्य बढ़ता है और यदि परिमाण बढ़ा दिया जाय तो मूल्य कम होता है। अर्थात् यह परिवर्तन परिमाण में कमी या अधिकता के साथ उल्टे अनुपात में होता है। दूसरे शब्दों में यदि द्रव्य का परिमाण पहिले से आधा रह जाय तो द्रव्य का मूल्य दुगुना हो जायगा और यदि परिमाण दूना हो जाय तो मूल्य आधा ही रह जायगा।

बाजार भाव के सम्बन्ध में परिमाण सिद्धान्त को इस प्रकार कहा जा सकता है कि यदि अन्य सब बातें ज्यों की त्यों रहें और द्रव्य के परिमाण में वृद्धि कर दी जाय तो बाजार

भाव उसी अनुपात में बढ़ जायगा और द्रव्य का परिमाण घटा देने पर बाजार भाव उसी अनुपात में घट जायगा। द्रव्य का परिमाण दूना होने पर बाजार भाव दूना और आधा होने पर बाजार भाव आधा रह जाता है। परिमाण की वृद्धि या कमी का प्रभाव भाव पर किस प्रकार पड़ता है इसे समझना कुछ कठिन नहीं है। हम मान लेते हैं कि द्रव्य की मात्रा दूनी कर दो जाती है तो यदि अन्य सब बातें ज्यों की त्यों रहें अर्थात् द्रव्य के वेग में परिवर्तन न हों, व्यापार की मात्रा अर्थात् विनिमय के लिए आने वाली वस्तुओं और उनके विनिमय के वेग में परिवर्तन न हो, बढ़े हुए द्रव्य में कोई भाग विनष्ट या संग्रह न कर लिया जाय आदि, तो यह निश्चय है कि वस्तुओं का भाव दुगना बढ़ जायगा। लोगों की क्रय शक्ति पहिले से दूनी है और इस कारण लोग प्रत्येक वस्तु के लिए पहिले से दूना द्रव्य देनेको प्रस्तुत होंगे। अतः बाज़ार भाव दूना हो जायगा अब इसी बात को हम फिशर के समीकरण द्वारा सिद्ध कर सकते हैं। उनके अनुसार $द्र \times वे + द्र^{1} \times वे^{1} = भा \times व्या$। इस समीकरण में यदि किसी एक दिशा में परिवर्तन किया जाय तो दोनों पक्ष फिर बराबर करने के लिए दूसरे पक्ष में उतना ही परिवर्तन आवश्यक होता है। इस प्रकार हमारे समीकरण में यदि $द्र + द्र^{1}$ दूना हो जाय तो यह आवश्यक है कि दूसरे पक्ष में भी भा अथवा व्या दूना हो जाय। परन्तु हम पहिले ही कह चुके हैं कि व्या की मात्रा में कोई परिवर्तन नहीं होता है तो निश्चय ही भा दूना हो जा.गा।

आलोचना

यद्यपि उस सिद्धान्त को पूर्ण रूप से किसी ने गलत सिद्ध नहीं किया है किन्तु फिर भी इसकी सत्यता स्वीकार करने के लिए लोग प्रस्तुत नहीं होते हैं। इस सिद्धान्त की अर्थशास्त्रियों ने बड़ी कटु आलोचना की है।

सब से पहिली और महत्व पूर्ण आलोचना इस सिद्धान्त के काल्पनिक होने के सम्बन्ध में हैं। हमने इसकी परिभाषा में देखा है कि यह सिद्धान्त तभी सत्य सिद्ध होगा जब अन्य सब बातें ज्यों की त्यों रहे। परन्तु वास्तविक जीवन में अन्य सब बातें ज्यों की त्यों कभी नहीं रहती हैं। हम एक जीवित संसार में रहते हैं और परिवर्तन ही जीवन का सबसे बड़ा लक्षण है। इस सिद्धान्त के लिए जिन बातों के स्थिर रहने की कल्पना की जाती हैं के कभी स्थिर नहीं रह सकती हैं। द्रव्य का परिमाण बदलने पर द्रव्य का वेग घटता बढ़ता है। व्यापार अर्थात वस्तुओं की संख्या और उनके विनिमय के वेग में भी परिवर्तन होते ही रहते हैं। द्रव्य का परिमाण बढ़ने पर उत्पादन तथा विनिमय दोनों के वेग में वृद्धि होना अनिवार्य ही है। द्रव्य अधिक परिमाण में होने पर लोगों की संग्रह शक्ति बढ़ती हैं और वे व्यक्ति जो अभी तक द्रव्य संग्रह में असमर्थ थे सम्भव है अब द्रव्य का संग्रह करने लगें। इस प्रकार यह हो सकता है कि हम जिस द्रव्य को द्रव्य की प्रस्तुत मात्रा में सम्मिलित करें वह वास्तव में निष्क्रय पड़ा होने के कारण

मूल्य निर्णय में भाग ही न लेता हो। यह सब देखकर हम इस निर्णय पर पहुँचते हैं कि यह सिद्धान्त केवल ऐसी परिस्थितियों में सत्य प्रमाणित हो सकता है जो यथार्थ में किसी समय वर्तमान् नहीं होती हैं। इस प्रकार के काल्पनिक सिद्धान्तों का हमारे वास्तविक जीवन में भला क्या उपयोग हो सकता है ?

दूसरी आलोचना यह है कि इस सिद्धान्त के अनुसार द्रव्य की मात्रा बढ़ने पर बाजार भाव भी ठीक उसी अनुपात में बढ़ता है। अर्थशास्त्रियों को इस कथन की सत्यता में सन्देह है, जो ठीक भी है, क्योंकि द्रव्य की मात्रा दूनी कर देने पर भाव ठीक दूने हो जाँय इसका कोई प्रमाण नहीं मिलता है। इसके अतिरिक्त द्रव्य की मात्रा में परिवर्तन होने के बाद शीघ्र ही मूल्यस्तर में परिवर्तन होना भी नहीं देखा जाता है क्योंकि मूल्यस्तर बदलने में कुछ समय लगता है।

इसके बाद यद्यपि हम सिद्धान्त का विवेचन गणित की सहायता से करते हैं किन्तु समीकरण के दोनों पक्षों में आने वाली बातों के ठीक ठीक नापने का हमारे पास कोई साधन नहीं है। इस कारण सिद्धान्त के प्रतिपादन में गणित का प्रयोग ही निष्प्रयोजन है। देश में प्रचलित द्रव्य विशेषतः साख द्रव्य की मात्रा को कैसे नापा जायगा ? दोनों प्रकार के द्रव्य के वेग को नापना तो असम्भव ही है। दूसरी ओर विनियम में भाग लेने वाली वस्तुओं तथा सेवाओं की मात्रा

और उनका वेग आदि सभी ऐसी चीजें ह जिनकी नाप किसी प्रकार नहीं हो सकती। द्रव्य की जो मात्रा सरकार के हाथों बढ़ती है उसकी नाप के विषय में भी हम निश्चय रूप से कुछ नहीं कह सकते क्योंकि उसका कितना भाग वास्तव में विनिमय में भाग लेता है और कितना संग्रहीत हो जाता है इसको नापने का हमारे पास कोई उपाय नहीं है।

इस सिद्धान्त के अपवाद स्वरूप हम यह भी कह सकते हैं कि द्रव्य का मूल्य वस्तुओं के मूल्यस्तर से नापना इस लिये उचित नहीं है कि वस्तुओं का मूल्यस्तर न केवल द्रव्य के परिमाण पर निर्भर है बल्कि उस पर अन्तर्राष्ट्रीय व्यपारिक समस्यों का भी प्रभाव पड़ता है। एक देश का मूल्यस्तर बहुत अंश में विदेशों के मूल्यस्तर से भी सम्बन्धित रहता है। साथ ही मूल्यस्तर पर सरकारी नियंत्रण का भी प्रभाव पड़ता है जैसे युद्ध के समय में कुछ वस्तुओं के मूल्य बढ़ने पर सरकार द्वारा प्रतिबंध लग जाता है एसी दशा में द्रव्य का परिमाण बढ़ने पर मूल्यस्तर न बढ़े यह भी सम्भव हो सकता है।

अंत में इस परिमाण सिद्धान्त के पक्ष में इतना कह देना उचित होगा कि इसमें इतनी त्रुटियाँ होते हुए भी यह द्रव्य सम्बन्धी एक बहुत महत्वपूर्ण सत्य है। आर्थिक संसार में हमारे सामने समय समय पर आने वाली समस्याओं का स्पष्टीकरण हमें इस सिद्धान्त में मिलता है। यद्यपि बाजार भाव पर अन्य अनेक बातों का भी प्रभाव पड़ता है और द्रव्य के परिमाण में

परिवर्तन का प्रभाव ठीक उसी अनुपात में मूल्यस्तर पर नहीं पड़ता किन्तु यह सत्य है कि द्रव्य के परिमाण का प्रभाव बाजार भाव पर पड़ता अवश्य है।

अर्थशास्त्र के प्रायः सभी सिद्धान्त कुछ विशेष परिस्थितियों में ही सत्य सिद्ध होते हैं। अगर विपरीत दशाओं में वह ठीक न उतरें तो उनकी वास्तविकता में अन्तर नहीं आता और न इससे उन्हें गलत ही समझना चाहिये। इसी कारण इस सिद्धान्त की परिभाषा में "यदि अन्य सब बातें ज्यों की त्यों रहें" शब्द जोड़कर उसे मर्यादित कर दिया गया है। जिस परिवर्तनशीलता की ओर आलोचना में संकेत हैं उसका तथा विशेप परिस्थितियों का परिभापा में उल्लेख कर देने के बाद वास्तव में आलोचना के लिये कोई स्थान नहीं रह जाता है।

इसी प्रकार बीजगणित के समीकरण के प्रयोग का उद्देश्य सिद्धान्त को एक सूक्ष्म और सरल रूप में प्रदर्शित करने का है। उसका आशय यह है कि जिस प्रकार समीकरण के एक पक्ष में कोई परिवर्तन होते ही दूसरे पक्ष में परिवर्तन आवश्यक हो जाता है उसी प्रकार द्रव्य के परिमाण में परिवर्तन होने से बाजार भाव में और द्रव्य के मूल्य में भी परिवर्तन हो जाता है। सचमुच में इसमें संदेह नहीं कि द्रव्य की मात्रा, मूल्यस्तर और द्रव्य के मूल्य में बहुत घनिष्ट सम्बन्ध है। यदि हमें यह बात सत्य मालूम होती है तो फिर परिमाण सिद्धान्त की वास्तविकता हमें माननी ही पड़ेगी।




सूचक-अंक



परिच्छेद बारह



सूचक-अंक

पिछले परिच्छेद में कहा गया है कि द्रव्य का मूल्य नापने के लिए हम उसकी तुलना अन्य वस्तुओं के मूल्य के साथ करते हैं। अन्य वस्तुओं के विनिमय में जब द्रव्य अधिक देना पड़ता है तो उसका अर्थ होता है कि द्रव्य का मूल्य घट गया और यदि कम देना पड़े तो द्रव्य का मूल्य बढ़ा हुआ माना जाता है। इस प्रकार वस्तुओं के मूल्य परिवर्तन की सहायता से द्रव्य का मूल्य नापा जा सकता है। जैसे सन् १६३६ में यदि दूध ३ आने सेर और इस समय १२आने सेर है तो हम यह कह सकते हैं कि दूध का मूल्य ४ गुना बढ़ गया है और द्रव्य का मूल्य घटकर १/४ रह गया है। इस सम्बन्ध में एक बात समझ लेने की यह है कि अन्य वस्तुओं का मूल्य नापने के लिए केवल एक वस्तु का प्रमाण लेते हैं किन्तु इसके विपरीत द्रव्य का मूल्य सभी वस्तुओं के आधार

पर नापा जाता है। उसे नापनेके लिए यह जानना आवश्यक है कि सामुहिक रूप से सभी वस्तुओं के मूल्यस्तर में कितना परिवर्तन हुआ है। वास्तुओं के मूल्य परिवर्तन को इस प्रकार व्यक्त कर सकना कि उससे सूक्ष्म रूप में कुछ अर्थ निकाला जा सके अत्यन्त कठिन है। द्रव्य के द्वारा बिकने वाली सभी वस्तुओं के मूल्यों का जनाना तो एक असम्भव कार्य है। दूसरी बात यह है कि कुछ वस्तुओं का मूल्य घटता है और साथ ही कुछ का मूल्य बढ़ता है। इसके अतिरिक्त सब वस्तुओं के मूल्य में समान रूप से परिवर्तन भी नहीं होता है। इसलिए किसी भी एक वस्तु को प्रमाण लेकर नापा हुआ मूल्य ठीक नहीं कहा जा सकता। ऊपर के उदाहरण में दूध को आधार लेकर नापने से मालूम होता है कि द्रव्य का मूल्य घटकर १/४ रह गया है, इसी प्रकार गेहूँ का उदाहरण लेकर कहा जा सकता है कि यदि युद्ध के पूर्व एक रुपये के १५ सेर और अब ३ सेर गेहूँ मिलते हैं तो द्रव्य का मूल्य घट कर केवल १/५ रह गया है। अतः प्रश्न है कि द्रव्य का मूल्य जानने के लिये वस्तुओं का मूल्यस्तर ठीक ठीक किस प्रकार नापा जाय? इस अध्याय में यही जानने का प्रयत्य हम करेंगे।

सूचक-अंक

सूचक या निर्देशक अंक से हमारा प्रयोजन उस अंक से है जिसकी सहायता से मूल्यस्तर का तुलनात्मक परिवर्तन

सरलता पूर्वक जाना जा सके। इसके देखने से शीघ्र ही यह पता चल सकता है कि एक निश्चित तिथि से अमुक समय तक मूल्यस्तर में क्या परिवर्तन हुआ है। सूचक अंक की सहायता से हम यह भी मालूम कर सकते हैं कि रहन सहन के व्यय में अमुक समय में कितना परिवर्त्तन हुआ है। अतएव अब हम यह बताएँगे कि इसी अंक की सहायता से द्रव्य के मूल्य में परिवर्त्तन जानने के लिये मूल्यस्तर किस प्रकार जाना जा सकता है।

सूचक अंक दो प्रकार से तैयार किया जाता है। यदि सब वस्तुओं को समान महत्व देते हुये अंक तैयार किया जाय तो उसे साधारण सूचक अंक कहते हैं और यदि प्रत्येक वस्तु को उसका अलग अलग मान अथवा महत्व देकर अंक तैयार किया जाय तो उसे सप्रभाव सूचक अंक कहते हैं।

सूचक अंक तैयार करने की विधि

सूचक अंक तैयार करने के लिये सबसे पहिले हमे आधार तिथि या समय निश्चित करना होता है। आधार तिथि से हमारा आशय उस समय से है जिसके मूल्य के साथ हमें वर्त्तमान समय या किसी अन्य समय के मूल्यस्तर की तुलना करनी हो जैसे पिछले उदाहरणों में हमने कहा है कि सन् १९३९ की अपेक्षा सन् १९४९ में वस्तुओं का मूल्य बढ़ गया है तो इन दो तिथियों में सन् १९३९ आधार तिथि हुई क्योंकि उस समय के मूल्यस्तरके साथ हमें वर्त्तमान मूल्यस्तर की तुलना करनी है।

इसके बाद हमें ऐसी वस्तुएँ चुननी पड़ती हैं जिनके मूल्य की सहायता से हम उचित ढंगसे यह ठीक ठीक अनुमान लगा सकें कि मूल्यस्तर वास्तव में घटा है अथवा बढ़ा है । तत्पश्चात् इन सब वस्तुओं के साधारण रूप से प्रचलित दाम मालूम कर लिए जाते हैं और फिर आधार समय से प्रस्तुत समय के मूल्यों की तुलना करने के लिये उनका औसत निकाल लिया जाता है । इस प्रकार हम यह जान सकते हैं कि अमुक समय में मूल्यस्तर में वृद्धि अथवा घटी हुई ।

इस गणना का एक प्रत्यक्ष उदाहरण हम नीचे दे रहे हैं:--

साधारण सूचक अंक

	दिसम्बर १६३६			दिसम्बर १६४६	
वस्तुएँ (१)	भाव (२)		आधार अंक (३)	भाव (४)	(३) का औसत अंक (५)
गेहूँ	२ रु०	प्रतिमन	१००	२० रु०	प्रतिमन १०००
रुई	८ रु०	,,	१००	४० रु०	,, ५००
शकर	१० रु०	,,	१००	३० रु०	,, ३००
घी	४० रु०	,,	१००	२०० रु०	,, ५००
दूध	४ रु०	,,	१००	२० रु०	,, ५००
			योग ५००		योग २८००
			५००×१/५ = १००		२८००×१/५ = ५६०

दिसम्बर सन् १६४६ का सूचक अंक = ५६० । अर्थात् यदि किसी वस्तु का दाम सन् १६३६ में १०० अंक रहा हो तो अब उसका दाम ५६० अंक होगा ।

सप्रभाव सूचक अंक

ऊपर हमने पांच वस्तुओं का उदाहरण देकर सूचक अंक निकालने की विधि समझाई है वास्तव में जितनी अधिक वस्तुएँ होंगी मूल्य परिवर्तन का उतना ही अधिक परिचय हमें सूचक अंकों से मिलता है। इन विभिन्न वस्तुओं के सम्बन्ध में एक बात विचारणीय है। प्रत्येक वस्तु का महत्व हमारे जीवन में समान नहीं रहता है और इस कारण सबको एक ही आधार पर रखकर की हुई गणना ठीक न होगी। इसलिये गणना करते समय जीवन में महत्व के अनुपात से प्रत्येक वस्तु को महत्व देना आवश्यक हो जाता है। इस महत्व को हम एक दूसरे के अनुपात में व्यक्त करते हैं। उदा-हरण के लिए यदि हम गेहूँ पर शकर की तुलना में ५ गुना अधिक खर्च करते हैं तो यदि शकर का महत्व १ मानें तो गेहूँ का ५ मानना होगा। जिस वस्तु का जितना अधिक महत्व है उसे गणना करते समय उतने ही अधिक वार जोड़ा जाता है और इस प्रकार से तैयार किया गया अंक सप्रभाव सूचक अंक कहलाता है। अगले पृष्ठ पर दिये हुये उदाहरण से यह बात पूर्णतः स्पष्ट हो जायगी :

सप्रभाव सूचक अंक

वस्तु	महत्व या मान	भाव प्रति मन	१६३६ आधार अंक	महत्व सहित आधार अंक	१६४६ भाव प्रति मन	(४) का अनुपात	(५) का महत्व सहित अनुपात
(१)	(२)	(३)	(४)	(५)	(६)	(७)	(८)
गेहूँ	५	२ रु०	१००	५००	२० रु०	१०००	५०००
रुई	२	८ रु०	१००	२००	४० रु०	५००	१०००
शकर	१	१० रु०	१००	१००	३० रु०	३००	३००
घी	३	४० रु०	१००	३००	२०० रु०	५००	१५००
दूध	४	४ रु०	१००	४००	२० रु०	५००	२०००
	१५		योग	१५००		योग	६८००

सन् १६३६ का आधार अंक $= \frac{१५००}{१५} = १००$

सन् १६४६ का सप्रभाव सूचक अंक $= \frac{६८००}{१५} = ६५३.३$

” साधारण सूचक अंक $= \frac{२८००}{५} = ५६०$

ध्यान देने योग्य बातें

१—आधार

ऊपर हम देख चुके हैं कि किसी एक वर्ष को आधार लेकर उस वर्ष के भाव को हम १०० मान लेते हैं। उसी के

साथ हम अन्य वर्षों के भावों की तुलना करते हैं जिससे भावों की प्रतिशत वृद्धि या कमी का परिचय मिलता है। दूसरे शब्दों में इस वर्ष को हम माप दंड मान लेते हैं। हम माप दंड उसी वर्ष को मान सकते हैं जिसमें स्वयं किसी प्रकार की असाधारणता या विषमता न हो। इस प्रकार के वर्ष का चुनाव करते समय यह ध्यान रखना चाहिए कि चुना हुआ वर्ष ऐसा न हो जिसमें विशेष अकाल पड़ा हो अथवा असाधारण रूप से समृद्धि की परिस्थिति रही हो। कभी कभी असाधारणता के प्रभाव को कम करने के लिए कई वर्षों के भावों का मध्यमान लेकर उसे १०० के बराबर मान लेते हैं जैसे प्रथम विश्वयुद्ध के पूर्व प्रचलित आधार १८६७—७७ के मध्यमान का आधार था। प्रथम विश्वयुद्ध के बाद इतने अधिक व्यापक परिवर्तन हुए कि युद्ध के प्रभाव को और उसके पश्चात यथास्थिति पहुँचने की प्रवृत्ति को नापने के लिए १९१३ (युद्ध के ठीक पूर्व) को आधार मानने लगे. किन्तु दूसरे महायुद्ध के बाद १९३९ को आधार मान कर अधिकांश सूचक अंक तैयार किए जा रहे हैं।

२—वस्तुओं का चुनाव

वस्तुओं के चुनाव में सूचक अंक का उद्देश्य ध्यान में रखना बहुत ही आवश्यक है। यदि हमें यह जानना हो कि देहाती मजदूरों की जीविका के खर्च में क्या परिवर्तन हुआ है तो हमें ऐसी वस्तुओं के भाव का पता लगाना होगा जिनका देहाती

मजदूर अधिकाश व्यवहार करते हों। क्योंकि यदि इस प्रकार इकट्ठा किए हुए भावों के आधार पर हम नागरिक उद्योगों में लगे हुए मजदूरों की जीविका के खर्च का परिवर्तन निकालना चाहें तो हम ठीक निश्चय पर नहीं पहुँचेगे। नगर में रहने वाले मजदूर अनेक ऐसी वस्तुओं का व्यवहार करते हैं जिनको देहाती मजदूर कभी व्यवहार में नही लाते। वस्तुओं के चुनाव में एक बात और ध्यान देने योग्य है कि दो वर्षों की तुलना करने में दोनों वार चुनी हुई वस्तुएँ एक ही प्रकार की होनी चाहिए अन्यथा तुलना का परिणाम निरर्थक होगा। हम पहिले ही बतला चुके हैं कि सभी वस्तुओं का भाव इकट्ठा करना और उनकी गणना करना प्राय: असम्भव हैं। यह स्पस्ट है कि वस्तुएँ जितनी ही अधिक सख्या में होगी उतना ही उनके आधार पर मिला हुआ फल शुद्ध होगा। प्रवृत्ति की वास्तविकता का वह उतना ही ठीक परिचायक होगा। अधिक से अधिक वस्तुओं का चुनाव करते समय हमें ध्यान में रखना चाहिये कि वह वस्तुएँ ऐसी हो जो अधिकांश वस्तुओं का प्रतिनिधित्व कर सकें अर्थात् उनका मूल्य अन्य सभी वस्तुओं के मूल्य का सार रूप में अनुमान करा सके।

३—थोक या फुटकर भाव

इन दोनों के बीच चुनाव करने में भी हमें अपने उद्देश्य का ध्यान रखना होगा। यदि मूल्य का परिवर्तन इस उद्देश्य

से जानना हो कि कच्चे माल के सम्बन्ध में उत्पादन व्यय कितना बढ़ गया है तो थोक भाव हमारे लिए उचित आधार होगा। परन्तु जीविका के सम्बन्ध में सूचक अंक तैयार करने के लिए फुटकर भाव ही ठीक होंगे, यद्यपि फुटकर भावों का ठीक ठीक इकट्ठा कर सकना कठिन काम है।

४—उचित महत्व

केवल भावों के आधार पर निकाले हुए सूचक अंकों में कभी कभी बड़ा धोखा हो जाता है क्योंकि प्रयोग में सभी वस्तुओं का एक ही महत्व नहीं होता है। यदि किसी समय गेहूँ के भाव में २० प्रतिशत की वृद्धि हो जाय और उसी बीच सिगरेट का भाव २० प्रतिशत घट जाय तो बिना महत्व को ध्यान में रखे निकाले हुए सूचक अंक यह दिखावेंगे कि भाव में कोई परिवर्तन नहीं हुआ। परन्तु वास्तव में गेहूँ का भाव बढ़ जाने से जो कष्ट होगा उसकी पूर्ति सिगरेट सस्ती खरीदकर होना असम्भव है। इस लिए महत्व को ध्यान में रखना परमावश्यक है। यद्यपि महत्व का बिल्कुल ठीक ठीक अनुपात निश्चित कर सकना अति कठिन है किन्तु फिर भी अनुभव के आधार पर दिये हुये महत्व से निकला फल यथार्थ के अधिक निकट पहुँचा देता है।

सूचक अंकों की उपयोगिता

अर्थशास्त्र के विद्यार्थियों के लिए सूचक अंक बड़ा महत्व रखते हैं। उनका तो काम ही यह है कि आर्थिक दृष्टि से

विभिन्न समयों का विश्लेषण करें। भूतकाल में हुई बातों के साथ वर्तमान की तुलना करने से परिवर्तन का ज्ञान होता है और इससे वर्तमान आर्थिक समस्याओं को सुलझाने में बड़ी सरलता होती है। सूचक अंक वास्तव में इसी प्रकार के विश्लेषण का फल होते हैं।

व्यवसायी लोगों का मूल्यस्तर से बहुत घनिष्ट सम्बन्ध है। उनकी भविष्य की सारी योजनाएँ मूल्यस्तर के तुलनात्मक अध्ययन पर आधारित होती हैं। सूचक अंक द्रव्य के मूल्य परिवर्तन का ज्ञान कराकर व्यवसायियों को इस बात की सूचना देते हैं कि उन पर इस परिवर्तन का क्या प्रभाव पड़ता है मजदूरों के साथ झगड़ा निपटने में भी सूचक अंक व्यवसायियों की बड़ी सहायता करते हैं। इनके द्वारा यह ठीक ठीक अनुमान लगाया जा सकता है कि मजदूरों की जीविका का खर्च कितना बढ़ गया है और वास्तव में मजदूरी की वृद्धि की उचित सीमा क्या है। दो विभिन्न समयों में होने वाले लाभ आदि की तुलना करने में भी सूचक अंक सहायक होकर अनेक प्रकार से व्यवसाय के कार्य को सुगम बनाते हैं।

राजनीतिज्ञ लोग देश की आर्थिक परिस्थितियों को समझने का प्रयत्न करते हैं और उसी के आधार पर वे सरकार की आलोचना अथवा उसका समर्थन करते हैं। राज्याधिकारियों के लिये तो आर्थिक परिस्थितियों का ज्ञान अनिवार्य ही है। देश पहिले से अधिक समृद्ध हो रहा है अथवा आर्थिक दृष्टि

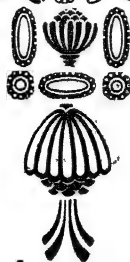
से हीन, और कौन कौन से आर्थिक परिवर्तन हो रहे हैं, उनका अच्छा या बुरा प्रभाव पड़ रहा है, यह सब जानना उनका कर्तव्य है। द्रव्य के मूल्य, जीविका और उत्पादन के खर्च के आधार पर राज्य की ओर से कर आदि लगाए जाते हैं। इन सबके लिए सूचक अंक का ज्ञान आवश्यक होता है। यह अंक वास्तव में इसी परिवर्तन के सूचक होते हैं। सच तो यह है कि मनुष्य चाहे जिस स्थान पर हो आर्थिक समस्याओं को हल करने के लिए आर्थिक परिवर्तनों का ज्ञान आवश्यक है। सूचक अंकों से इस प्रकार होने वाले एक ऐसे परिवर्तन का ज्ञान होता है जिसका प्रभाव बड़ा ही व्यापक है। इसलिये सूचक अंक जन-साधारण के लिए अत्यन्त उपयोगी सिद्ध हुये हैं।



द्रव्य-मूल्य में परिवर्तन

और

उसका प्रभाव



- द्रव्य-स्फीति
- द्रव्य-स्फीति का प्रभाव
- द्रव्य-संकोच
- द्रव्य-संकोच का प्रभाव
- द्रव्य-संतुलन की आवश्यकता

परिच्छेद तेरह



द्रव्य-मूल्य में परिवर्तन और उसका प्रभाव

पिछले दो परिच्छेदों के पढ़ने से हमें यह ज्ञात हो गया कि द्रव्य की मात्रा एवं वस्तुओं के मूल्यस्तर में घनिष्ट सम्बन्ध है और मूल्यस्तर द्रव्य के मूल्य का परिचायक है। इस सम्बन्ध में हमें स्मरण रहे कि द्रव्य की मात्रा घटने से मूल्यस्तर घटता है और मात्रा बढ़ने से मूल्यस्तर भी बढ़ता है। इसके विपरीत गिरते हुये मूल्यस्तर से द्रव्य के मूल्य में वृद्धि का संकेत मिलता है और बढ़ते हुये मूल्यतर से द्रव्य के मूल्य में कमी का बोध होता है। इस प्रकार परिमाण सिद्धान्त का स्मरण करते हुये हम पुनः कह सकते हैं कि द्रव्य की मात्रा बढ़ने से उसका मूल्य कम होता है और मात्रा घटनेसे उसका मूल्य अधिक होता। इस परिच्छेद में अब हम यह जानने का प्रयास करेंगे कि द्रव्य के मूल्य परिवर्तन का समाज पर क्या प्रभाव पड़ता है।

द्रव्य-स्फीति

स्फीति शब्द अपना विशेष अर्थ रखता है। स्फीति स्थिति तब होती हैं जब द्रव्य की कुल मात्रा औद्योगिक तथा व्यापारिक आवश्यकताओं से अधिक हो परन्तु यह ध्यान रखना चाहिये कि स्फीति शब्द स्थिर अवस्था का द्योतक नहीं है। स्फीति की अवस्था अस्वाभाविक और विशेष कारणों से उत्पन्न होती है। यदि व्यापारिक और औद्योगिक उन्नति के कारण देश में द्रव्य की बढ़ती हुई माँग को पूरा करने के लिये द्रव्य की मात्रा बढ़ा दी जाय तो उसे स्फीति नहीं कहेंगे। और न इस प्रकार की वृद्धि का कोई महत्व पूर्ण प्रभाव होता है। स्फीति की अवस्था तो केवल तब होती है जब द्रव्य की प्रस्तुत मात्रा मांग की तुलना में अत्यधिक हो।

स्फीति धातु और कागजी द्रव्य दोनों में हो सकती है। धातु द्रव्य में स्फीति होने का अवसर तब आता है जब अचानक मुद्रा में प्रयुक्त होने वाली धातु की बहुत बड़ी खानें निकल आती हैं अथवा किसी अन्य देश से अचानक मुद्रा में प्रयुक्त होने वाली धातु का बहुत बड़ी मात्रा में आयात होता है। दोनों परिस्थितियों में धातु मात्रा बढ़ने से मुद्रा की मात्रा बढ़ती है और यदि उद्योग तथा व्यापार में इसके साथ ही वृद्धि नही होती तो निश्चय ही स्फीति की अवस्था उत्पन्न हो जाती है। परन्तु इस प्रकार से उत्पन्न स्फीति साधारणतः देखने में नहीं आती है क्योंकि सोना और चाँदी की पहिले से इस समय इतनी अधिक मात्रा

है कि नई खानों या आयात का उस पर अधिक प्रभाव नहीं पड़ता है। दूसरे आजकल धातु मुद्रा का प्रचलन भी कम हो गया है। अतः साधारणतः स्फीति का आशय कागजी द्रव्य या नोटों की मात्रा में अत्यधिक वृद्धि से ही होता है। कागज जितना चाहें मिल सकता है और छापाखाने में जितने मूल्य और जितनी संख्या के चाहें नोट छापे जा सकते हैं। यही कारण है कि नोटों की संख्या बढ़ाकर स्फीति की अवस्था उत्पन्न करने के प्रमाण बहुत अधिक मिलते हैं। इसीलिए स्फीति का उल्लेख करते ही लोग प्रायः उसकी कल्पना नोटों के रूप में ही करते हैं। द्रव्य स्फीति के सबसे अधिक और महत्वपूर्ण उदाहरण हमें युद्धकाल में मिलते हैं। सरकार को युद्ध सम्बन्धी कार्यवाही सुचारु रूप से चलाने के लिए द्रव्य की आवश्यकता होती है। राजकर तथा जनता से लिए ऋण द्वारा युद्ध का खर्च अधिक समय तक चलाना सम्भव नहीं होता। ऐसी परिस्थिति में सरकार के सामने सबसे सरल तथा सुगम उपाय द्रव्य स्फीति का ही रह जाता है।

द्रव्य-स्फीति का प्रभाव

जैसा प्रारम्भ में कहा गया है द्रव्य स्फीति का सबसे पहिला प्रभाव वस्तुओं के मूल्यस्तर पर पड़ता है जिससे स्फीति के समय वस्तुओं के दाम बढ़ने लगते हैं। ज्योंही वस्तुओं का मूल्य बढ़ता है लोगों का नित्य का खर्च भी बढ़ जाता है मजदूरों तथा वेतन भोगी लोगों को जितना वेतन मिलता है वह जीवन

की आवश्यकताओं के लिए पर्याप्त नहीं होता। चारों ओर असन्तोष फैलता है। सभी वेतन भोगी तथा मजदूर वेतन वृद्धि की माँग करते हैं। जीवन का खर्च दूना होने पर सचमुच ही उन्हें पहिले से दूना वेतन मिलना चाहिए। कुछ सीमा तक ऐसा किया भी जाता है लेकिन मूल्यस्तर बढ़ते बढ़ते इतना अधिक हो जाता है कि वेतन वृद्धि या महँगाई का भत्ता देकर उसके साथ मेल नहीं मिलाया जा सकता। वेतन भोगी लोग दरिद्रता की सीमा तक पहुँच जाते हैं क्योंकि मूल्य वृद्धि और वेतन वृद्धि में कोई सामञ्जस्य नहीं रहता। वेतन भोगियों की भाँति वे पूंजीपति भी मुद्रास्फोति के आघात का कष्टकर अनुभव करते हैं जिनकी पूंजी स्थायी रूप से लगी होती है और उस पर मिलने वाली आय निश्चित होती है। उदाहरण के लिए मकानमालिक, जमीन्दार और महाजन लोगों को किराये, लगान या व्याज के रूप में एक बँधी हुई आय होती है। यदि इनमें से कोई कुछ वृद्धि करा भी पाते हैं तो वह नाम मात्र की होती है।

दूसरी ओर उद्योगपतियों पर द्रव्य स्फीति का इसके विपरीत प्रभाव पड़ता है अर्थात् उन्हें इससे लाभ होता है। लाभ होने का सबसे पहिला कारण यह है कि उनके उत्पादन में सहायक होने वाले मजदूरों की मजदूरी उतनी नहीं बढ़ती है जितनी कि वस्तुओं के मूल्य में वृद्धि होती है। दूसरा कारण यह है कि जब वस्तुओं का मूल्य दिन प्रतिदिन बढ़ता है तो कम मूल्य पर खरीदे हुए कच्चे माल से बनी वस्तुओं को वे अधिक मूल्य पर

बेचते हैं। तीसरा कारण यह है कि उद्योगपति अपने उद्योगों में ऋण पर लिया हुआ धन लगाए रहते हैं जिस पर ब्याज पूर्ववत् ही देना पड़ता है यद्यपि उसके द्वारा उन्हें लाभ बहुत अधिक होता है। उद्योगपतियों की भाँति व्यापार में लगे लोगों को भी कम मूल्य की ली हुई वस्तुओं को अधिक मूल्य पर बेंचने से बहुत अधिक लाभ होता है। संक्षेप में द्रव्य स्फीति से किराया, लगान और व्याज देने वालों को लाभ होता है। स्फीति की अवस्था के पहिले लिये हुये ऋण का भुगतान स्फीति होने पर करने से ऋणी को लाभ होता और महाजन को हानि रहती है क्योंकि जब ऋण दिया गया था तो द्रव्य की क्रय शक्ति अधिक थी और स्फीति के बाद जब उसका भुगतान किया जाता तो उसकी क्रयशक्ति कम हो जाती है। द्रव्य स्फीति के कारण होने वाली मूल्य वृद्धि उद्योग तथा व्यापार को प्रोत्साहन देती है। अधिक लाभ कमाने की दृष्टि से लोग अधिक से अधिक उत्पादन करने लगते हैं और उसके फल स्वरूप व्यापार में भी वृद्धि होती हैं। उद्योग तथा व्यापार की बढ़ती हुई चहल पहल को सभालने के लिए अधिक लोगों की आवश्यकता पड़ती है। ऐसे समय अधिकांश बेकारी दूर हो जाती है और प्रत्येक व्यक्ति को काम मिल जाता है। इस दृष्टि से इस अवस्था को वेतन भोगियों के लिए हम हितकार भी कह सकते है।

द्रव्य-संकोच

जिस प्रकार द्रव्य की प्रस्तुत मात्रा आवश्यकता से अत्यधिक होने पर हम उसे स्फीति की आवस्था कहते हैं उसी प्रकार द्रव्य

की मात्रा आवश्यकता से कम होने पर हम उसे द्रव्य-संकोच की अवस्था कहते हैं। संकोच की अवस्था देश से धातु निर्यात हो जाने के कारण उत्पन्न हो सकती है। परन्तु द्रव्य संकोच इस धातु निर्यात से नही प्रायः अन्य कारणों से ही होता है। जिस प्रकार स्फीति बहुधा सरकार के द्वारा होती है उसी भाँति द्रव्य संकोच में भी बहुधा सरकार का ही हाथ रहता है। केन्द्रीय बैंक की व्याज दर ऊँची कर देने से अन्य बैंकों को केन्द्रीय बैंक से रुपया अधिक व्याज पर मिलता है और इस कारण उन्हें भी अपनी व्याज दर बढ़ानी पड़ती है। बढ़ी हुई व्याज दरपर ऋण लेने को लोग कम तैयार होते हैं। बाजार में धीरे धीरे द्रव्य की कमी हो जाती है। कभी कभी सरकार अधिक व्याज पर ऋण लेने को तैयार हो जाती है जिससे व्यापारियों का रुपया ऋण पत्र खरीदने में लग जाता है और इस प्रकार बाजार में द्रव्य की कमी पड़ जाती है। इसके अतिरिक्त यदि द्रव्य को मात्रा उतनी ही रहे और उत्पादन तथा व्यापार की मात्रा बढ़ जाय तो द्रव्य अवश्यकता से कम पड़ जाता है और द्रव्य संकोच की दशा उत्पन्न हो सकती है।

सरकार द्वारा द्रव्य संकोच के दो उद्देश्य होते हैं। पहिला उद्देश्य संशोधन की प्रवृत्ति का सूचक है। अधिक द्रव्य स्फीति के कारण उत्पन्न समस्याओं के प्रभाव को कम करने की दृष्टि से सरकार द्रव्य की मात्रा में कमी करना आवश्यक समझती है। द्रव्य कम करने की यह क्रिया यदि आवश्यकता से अधिक हो

गई तो मुद्रा संकोच की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। मुद्रा संकोच का दूसरा अवसर उस समय उपस्थित होता है जब किसी देश का मूल्य बहुत गिर जाता है और सरकार उसे बढ़ाने के लिए द्रव्य की मात्रा में कमी करना चहती है। अधिक उत्पादन के कारण होने वाला द्रव्य संकोच एक प्रकार से स्फीति की ही प्रतिक्रिया के फल स्वरूप होता है। प्रथम महायुद्ध के बाद होने वाला मुद्रा संकोच इसका प्रत्यक्ष उदाहरण है। युद्ध काल में उत्पन्न हुई स्फीति के कारण प्रत्येक देश में औद्योगिक तथा व्यापारिक चहल पहल बढ़ गयी थी। परन्तु युद्ध के उपरान्त युद्ध सामिग्री की माँग बन्द हो जाने पर उद्योगपतियों ने साधारण उपभोग की वस्तुएँ तैयार करना प्रारम्भ कर दिया था और स्फीति के कारण प्रोत्साहन तो पहले से ही मिल रहा था। दूसरी ओर सरकार की युद्ध सम्बन्धी आवश्यकता समाप्त हो जाने से नोटो का अधिक छपना और उनका प्रचलित होना बन्द हो गया था फलतः उत्पादन की मात्रा दिन दिन बढ़ती गयी जब कि द्रव्य की मात्रा में कोई वृद्धि नहीं हुई। परिणाम यह हुआ कि द्रव्य की मात्रा आवश्कता से कम हो गयी और मुद्रा संकोच जैसी परिस्थिति का अनुभव होने लगा।

द्रव्य-संकोच का प्रभाव

स्फीति की तुलना में मुद्रा संकोच का ठीक उल्टा प्रभाव पड़ता है। मूल्यस्तर गिर जाता है जिससे वेतन भोगी लोगों को लाभ होता है। उनके वेतन की मात्रा वही रहती है किन्तु द्रव्य

की क्रय शक्ति अधिक हो जाने से वह अधिक वस्तुयें मोल ले सकते हैं। मकान मालिक, जमींदार और महाजन आदि बँधी आय वालों को लाभ होता है। ऋणी लोगों को घाटा होता है। उद्योगपति तथा व्यापारी लोग भी ऐसे समय बड़े संकट में पड़ जाते हैं। उत्पादन के व्यय आदि में अधिक कमी कर सकना सम्भव नहीं होता किन्तु वस्तुओं के भाव बहुत गिर जाते हैं। व्यापारियों को अधिक मूल्य पर मोल ली हुई वस्तुएँ कम मूल्य पर बेंचनी पड़ती हैं। व्यापार में मन्दी आ जाती है और लाभ का अंश बहुत ही कम हो जाता हैं।

उद्योग तथा व्यापार सरकार की आय के दो मुख्य साधन हैं। उन पर संकट आने से सरकार की भी आय में कमी होती है। कभी कभी तो सरकार को आय की कमी के कारण वेतन में कटोती तक करनी पड़ती हैं। खर्च कम करने की दृष्टि से कर्मचारियों की छटनी करनी पड़ सकती है। उद्योग तथा व्यापार के क्षेत्र में मन्दी के कारण वहाँ भी लोगों को काम नहीं मिल पाता, देश में भयंकर बेकारी फैलती है और लोगों को बहुत अधिक कष्ट होता है।

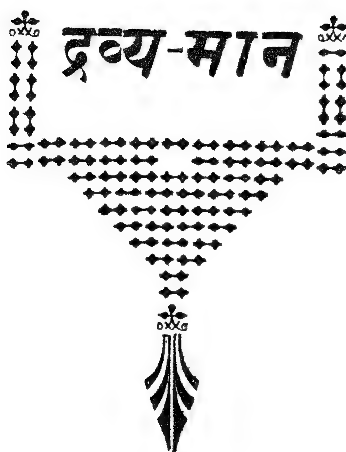
द्रव्य-संतुलन की आवश्यकता

द्रव्य स्फीति तथा द्रव्य संकोच के अध्ययन में हमने देखा कि दोनों परिस्थितियों में यद्यपि कुछ लोगों को लाभ होता हैं किन्तु कुल मिलकर उनका प्रभाव समाज के लिए बड़ा ही अहितकर होता है। स्फीति के समय लोगों के पास पैसा होना

है तो उसके बदले में आवश्यकता की वस्तुओं का अभाव रहता है और संकोच के समय वस्तुओं का बाहुल्य होता है किन्तु इनको प्राप्त करने के साधन द्रव्य का अभाव होता है जिससे आवश्यकताएँ पूरी नहीं हो पातीं। इसलिए समाज के हित में न स्फीति वाँछनीय है और न द्रव्य संकोच। समाज का हित इसी में है कि पूर्ण संतुलन की परिस्थिति रक्खी जाय। परन्तु अनेक कारणों से पूर्ण संतुलन की प्राप्ति कठिन ही नहीं अपितु असम्भव के तुल्य जान पड़ती है। इतना होते हुए भी हमारा आदर्श पूर्ण संतुलन का ही रहना चाहिए। स्फीति तथा संकोच दोनों पर इस प्रकार से रोक रखनी चाहिए कि अधिक से अधिक जितना सम्भव हो उतना संतुलन प्राप्त हो सके। संतुलन देश के द्रव्य संगठन में विश्वास उत्पन्न करता है और विश्वास ही ऐसी वस्तु है जिस पर देश का औद्योगिक, व्यापारिक और आर्थिक संगठन् निर्भर करता है। यही नहीं, देश की सुख समृद्धि का सारा भार द्रव्य सम्बन्धी विश्वास पर ही आश्रित है। इसलिए प्रत्येक समाज हितैषी सरकार का कर्तव्य है कि द्रव्य की मात्रा, साख तथा केन्द्रीय बैंक पर ऐसा नियन्त्रण रखे कि संतुलन के आदर्श के अधिक से अधिक निकट पहुँचा जा सके। इससे साधारण समाज तो सुखी और संतुष्ट होता ही है साथ ही सरकार की भी अनेक जटिल समस्याएँ अपने आप हल हो जाती हैं।







द्रव्य-मान

द्रव्य-मान के रूप :

१—वस्तु-मान
२—धातु-मान
३—कागजी-मान

धातु-मान के रूप
द्विधातु-मान के लक्षण
द्विधातु-मान के गुण-दोष
वैकल्पिक द्रव्य-मान
समानान्तर द्रव्य-मान
द्विधातु-मान का इतिहास



परिच्छेद चौदह



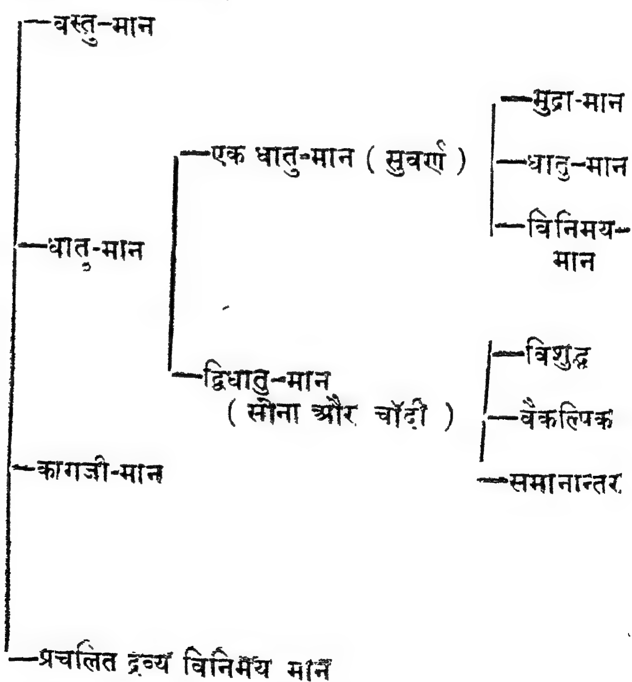
द्रव्य-मान

संसार के हर एक देश का द्रव्य प्रबन्ध अथवा उसकी आंतरिक द्रव्य व्यवस्था अलग अलग होती हैं क्योंकि किसी देश की द्रव्य पद्धति उसकी आर्थिक स्थिति और द्रव्य नीति पर आधारित रहती है। साथ ही हमें यह भली भाँति ज्ञात है कि द्रव्य का प्रयोग मनुष्य की सुविधा के लिए होता है। इसीलिये समय समय पर आवश्यकतानुसार द्रव्य के स्वरूप में परिवर्तन हुआ है। द्रव्य के स्वरूप से ही किसी देश के द्रव्य–मान का परिचय मिलता है। द्रव्य–मान से हमारा आशय देश की द्रव्य-पद्धति से है अर्थात् वहाँ किस प्रकार का द्रव्य प्रयोग किया जाता है या किस प्रकार की मुद्राओं अथवा नोटों का प्रचलन है, प्रचलन की क्या व्यवस्था है, किसी अन्य देश के द्रव्य से उसका क्या सम्बन्ध है इत्यादि बातों का ज्ञान ही द्रव्य-मान का अध्ययन कहलाता है।

द्रव्य-मान के रूप

मानव जीवन के आर्थिक विकास में द्रव्य का प्रयोग आवश्यकता और सुविधानुसार उसके विभिन्न रूपों में हुआ है और उन्हीं के आधार पर द्रव्य-मान का बोध होता है।

नीचे दिये हुये चित्र से द्रव्य-मान के मुख्य रूपों का पता सरलता से चल सकता है :



अब हम प्रस्तुत और अगले परिच्छेद में द्रव्य-मान के इन्हीं प्रधान स्वरूपों का अध्ययन करेंगे।

१—वस्तु-मान

द्रव्य या द्रव्य-मान का यह प्रथम रूप है। इसमें वस्तुओं का मूल्य किसी एक सर्वमान्य वस्तु के आधार पर निर्धारित होता है। विभिन्न देशों में गाय, घोड़ा, गेहूँ, तम्बाकू आदि अनेक प्रकार की वस्तुओं का प्रयोग इस रूप में हो चुका है। किन्तु जैसा हम पहिले ही देख चुके हैं इन सब वस्तुओं में वह गुण नहीं थे जिनकी सभ्य समाज में द्रव्य के लिए आवश्यकता थी। यही कारण है कि आज से शताब्दियों पहिले समाज इन वस्तुओं का द्रव्य रूप में प्रयोग करना बन्द कर चुका है।

२—धातु-मान

द्रव्य रूप में प्रयोग करने के लिए समाज ने धातुओं को को सर्वश्रेष्ट समझा। इनमें द्रव्य के सभी आवश्यक गुण उपस्थित थे किन्तु सभी धातुएँ द्रव्य का कार्य करने के लिए समर्थ नहीं पाई गईं। केवल सोना और चाँदी को ही सबसे अधिक उपयुक्त समझा गया और इसी कारण धीरे धीरे सभी स्थानों पर इन्हीं धातुओं ने द्रव्य का रूप धारण किया।

३—कागजी-मान

कागज के नोटों का प्रारम्भ धातु-मुद्रा के प्रतिनिधि स्वरूप हुआ। यदि नोट सोना या चाँदी में परिवर्तनीय होते हैं तो हम उसे धातु-मान ही कहते हैं। किन्तु द्रव्य के इतिहास में ऐसे अवसर भी आए हैं जब कुछ देशों की सरकार ने मुद्रा

प्रचलन के अधिकार का विशेष प्रयोग करके नोटों को अपरिवर्तनीय घोषित किया है। ऐसे नोटों के बदले में सोना या चाँदी नहीं मिल सकता था। इस प्रकार का द्रव्य-मान कागजी मान कहा जाता है।

वर्तमान युग में वस्तु-मान का कोई विशेष महत्व नहीं है। धातु-मान और कागजी मान ही वास्तव में इस युग के दो प्रमुख द्रव्य-मान हैं। इसलिए हम यहाँ पर इन की ही विस्तृत विवेचना करेंगे।

धातु-मान के रूप

हम पहिले ही देख चुके हैं कि सोना और चाँदी केवल दो ऐसी धातुएँ हैं जो द्रव्य रूप में प्रयोग हो सकती हैं। बहुत दिनों तक दोनों को साथ साथ द्रव्य के रूप में प्रयोग किया गया। ऐसी पद्धति को द्विधातु-मान कहते हैं। किन्तु अनेक दोषों के कारण दोनों धातुएँ एक साथ द्रव्य का कार्य नहीं कर सकीं और इनमें से एक को द्रव्य के पद से अलग होना पड़ा। अधिक मूल्यवान होने के कारण और देश की आर्थिक प्रतिष्ठा का ध्यान रखकर अधिकांश देशों ने सोने को द्रव्य के रूप में स्वीकार किया। चाँदी का भी कुछ देशों में प्रयोग हुआ इसका कारण उनकी दरिद्रता, पुरानी परिपाटी आदि कई बातें थीं। ऐसी पद्धति एक धातु-मान कहलाती है।

द्विधातु-मान के लक्षण

द्विधातु-मान की तीन मुख्य विशेषताएँ हैं। पहिली विशेषता यह है कि दोनों धातुओं का मुद्रा निर्माण निर्बाध

होता है। देश के प्रत्येक नागरिक को यह अधिकार प्राप्त होता है कि वह सोना अथवा चाँदी देकर टकसाल से देश में प्रचलित मुद्रा बनवा सके। किसी धातु के मुद्रा निर्माण पर कोई रोक टोक नहीं होती। दूसरी विशेषता यह है कि दोनों धातुओं की मुद्राएँ असीम कानूनी द्रव्य समझी जाती हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि देश के भीतर किसी भी प्रकार का भुगतान दो धातुओं में किसी की मुद्रा के द्वारा किया जा सकता है। पाने वाला देने वाले से किसी विशेष धातु की मुद्रा के लिए हठ नहीं कर सकता क्योंकि वह दोनों धातुओं की मुद्राओं को कानूनी रूप से स्वीकार करने के लिए बाध्य होता है। द्विधातु-मान की तीसरी विशेषता यह है कि दोनों धातुओं के बीच एक निश्चित अनुपात होता है अर्थात् सरकारी तौर पर निर्धारित कर दिया जाता है कि एक धातु की इतनी मुद्राएँ दूसरी धातु की इतनी मुद्राओं के मूल्य के बराबर होंगी।

द्विधातु-मान के गुण-दोष

१—द्विधातु मान के पक्ष में सबसे अधिक महत्वपूर्ण बात यह है कि दो धातुओं के द्रव्य रूप में प्रयोग होने से वस्तुओं के मूल्य में स्थिरता बनी रहती है। इसका कारण यह है कि द्रव्य की मात्रा में अर्थात् उसके मूल्य में अधिक परिवर्तन नहीं होता क्यों कि यदि एक धातु के उत्पादन में कमी हुई तो सम्भव है दूसरी धातु की मात्रा बढ़ जाय। यद्यपि यह कोई नियम नहीं कि एक बढ़े और एक घटे किन्तु दोनों के एक साथ घटने बढ़ने की सम्भावना

बहुत ही कम होती है। इस प्रकार एक दूसरे के पूरक के रूप दोनों धातुएँ बाजार भाव स्थिर रखने में बहुत अधिक सहायक होती हैं। इस रूप में इनकी तुलना दो ऐसे शराबियों से की जाती है जो यदि एक दूसरे का हाथ पकड़ कर चलें तो उनका गिरना यद्यपि असम्भव नहीं फिर भी गिरने की सम्भावना कम अवश्य हो जाती है। द्विधातु-मान के समर्थकों को यह भी विश्वास है कि दो धातुओं के द्रव्य रूप में प्रयोग होने से उनके पारस्परिक धातु-मूल्यों में अधिक समय तक अन्तर नहीं रह सकता। जैसे माना जाय कि सोना और चाँदी की मुद्राओं में टकसाली अनुपात १ : १५ है। अब यदि किसी कारण सोने का धातु-मूल्य इतना बढ़ जाय कि बाजार में सोने की १ मुद्रा चाँदी की १६ मुद्राओं के बराबर हो तो द्विधातुमान के मानने वालों के मतानुसार सर्राफा और टकसाल मूल्य का यह अन्तर अधिक समय तक नहीं चल सकता। उनका कहना है कि ऐसा अन्तर होने पर बाजार में सोने कि मात्रा अधिक बढ़ जायगी क्योंकि लोग चाँदी की १५ मुद्राएँ देकर टकसाल से सोने की १ मुद्रा लाकर बाजार में बेंच कर लाभ उठाना चाहेंगे जिससे बाजार में सोने की मात्रा बढ़ जाएगी और फलतः उसका मूल्य गिर जायगा। इसके विपरीत चाँदी से बनी मुद्राओं की माँग बढ़ेगी जिससे चाँदी का मूल्य भी बढ़ेगा। इस प्रकार कुछ समय बाद दोनों धातुओं के मूल्य में स्वतः सामञ्जस्य स्थापित हो जायगा। दूसरी ओर आलोचकों का कहना है कि द्विधातुमान वास्तव में एक धातु

मान ही है क्योंकि ग्रेशम नियम के अनुसार जब दोनों धातुओं के मूल्य में अन्तर होता है तो चलन में केवल एक ही धातु का प्रयोग रह जाता है। कुछ अंश तक यह बात ठीक भी है क्योंकि सोना और चाँदी जैसी बहुमूल्य धातुओं की मात्रा और फलतः उनके मूल्य में घटा बढ़ी होना स्वाभाविक ही है। इस प्रकार द्रव्य मान वास्तव में स्थायी रूप से द्विधातु-मान न होकर केवल एक धातुमान की होकर चलता रहता है।

२—द्विधातु मान में दूसरी सुविधा यह है कि सोने की थोड़ी मात्रा से ही काम चल जाता है। यदि सभी देश विनिमय के लिये आवश्यक सारा द्रव्य सोने की मुद्राओं में रखें तो सम्भवतः सोना पूरा नहीं पड़ेगा। सोने के साथ चाँदी को भी द्रव्य रूप में स्वीकार करने से यह कठिनाई दूर हो जाती है। इसके विपरीत कुछ लोगों का मत है कि आज कल प्रायः सभी देशों में कागजी द्रव्य हो गया है और सोने को द्रव्य-रूप में प्रयोग करने वाले देशों ने भी ऐसे ढंग निकाल लिए कि द्रव्य के मूल्य का आधार सोना होते हुए भी माध्यम के रूप में सोने की मुद्रा का प्रयोग अनावश्यक हो गया है। इसलिए सोने की मुद्रा के लिए सोना कम पड़ने का कोई प्रश्न ही नहीं उठता और इस कारण वर्तमान युग में यह तर्क प्रायः निरर्थक है।

३—यदि एक देश सुवर्ण और दूसरा चाँदी को द्रव्य रूप में प्रयोग करे तो विदेशी व्यापार में असुविधा होती है क्योंकि दोनों देशों के बीच विनिमय दर कभी स्थिर नहीं

रहता। चाँदी और सोने के मूल्य में परिवर्तन होनेके साथ विनिमय दर में भी उथल पुथल होने लगती है। इसका दुष्परिणाम दोनों देशों को भुगतना पड़ता है। इसीलिए कुछ देशों ने द्विधातु-मान के पक्ष में निर्णय दिया क्योंकि सोना और चाँदी दोनों को द्रव्य रूप में प्रयोग करने से व्यापार में सुविधा हो जाती है।

यह तर्क भी केवल विशेष परिस्थितियों में ही लागू होने वाला तर्क है। आजकल परिस्थितियों में ऐसा परिवर्तन हो गया है कि इस प्रकार से विनिमय में स्थिरता लाने के लिए प्रयत्न करना आवश्यक नहीं है। कुछ को छोड़कर संसारके प्रायः सभी देश प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप में सुवर्ण को ही द्रव्य-मान स्वीकार कर चुके हैं और इस कारण सुवर्ण के ही आधार पर उनकी विनिमय दर निश्चित हो चुकी है। इस प्रकार इस तर्क का वर्तमान युग में कोई क्रियात्मक महत्व नहीं है। यह तर्क केवल द्रव्य मान के इतिहास में एक विशेष अवसर पर द्विधातु-मान के प्रयोग की सार्थकता सिद्ध कर सकता है।

४—कुछ अर्थशास्त्रियों के विचार से द्विधातुमान उद्योग तथा व्यापार को प्रोत्साहन देता है। उनके अनुसार दोनों धातुओं के प्रयोग से द्रव्य की मात्रा अधिक होगी और उसके कारण वस्तुओं के मूल्य बढ़ेंगे जिससे देश का व्यापार तथा उद्योग उन्नति करता है। इसके अतिरिक्त द्रव्य की मात्रा में वृद्धि के कारण वस्तुओं का मूल्य बढ़ता है और ऋणी लोगों को

ऋण चुकाने में लाभ होता है । कुछ लोगों के विचार से ऋणी लोगों के प्रति अधिक सहानुभूति दिखानी चाहिए और इसी कारण द्विधातुमान के द्वारा उत्पन्न परिस्थिति वांछनीय है । इसके विरोध में लोगों का कहना है कि जहाँ तक उद्योग तथा व्यापार को मुद्रा प्रसार द्वारा प्रोत्साहन देने का प्रश्न है आजकल संसार इसके विरुद्ध है । पूर्व काल में व्यापारिक मन्दी के समय इस प्रकार का कृतिम प्रोत्साहन भले ही वांछनीय रहा हो किन्तु आजकल जब सभी देश मुद्रा प्रसार के दुष्परिणामों के कारण त्राहि त्राहि कर रहे हैं इस प्रकार के प्रयोग सारहीन माने जाते हैं ।

ऋणी लोगों के प्रति सहानुभूति के सम्बन्ध में केवल इतना ही कहा जा सकता है कि किसी एक वर्ग विशेष को लाभ पहुँचाने की दृष्टि से इस प्रकार की आर्थिक उथल पुथल उत्पन्न करना न्यायोचित नहीं कहा जा सकता है ।

५—दोनों धातुओं को द्रव्य रूप में प्रयोग करने से विभिन्न मूल्यों की छोटी बड़ी मुद्राएँ तैयार करने में सुविधा होती है । परन्तु आजकल जबकि धातु मुद्रा का प्रयोग बहुत ही कम है द्विधातु-मान स्वीकार न करने पर कोई असुविधा नहीं होती है ।

वैकल्पिक द्रव्य-मान

हम आगे द्वि धातु मान के इतिहास में देखेंगे कि पूर्ण द्विधातु मान की असुविधाओं को दूर करने के लिए उसमें

कुछ संशोधन और परिवर्तन किए गए । उन परिवर्तनों
सबसे महत्वपूर्ण परिवर्तन निर्बाध मुद्रा-निर्माण के सम्बन्ध
है । दो धातुओं में से केवल एक धातु का मुद्रा निर्माण निर्बा
रहता है और दूसरी धातु का मुद्रा निर्माण केवल सरकार क
इच्छा पर निर्भर होता है । वास्तव में एक समय चाँदी क
मूल्य लगातार गिर रहा था इस कारण प्रत्येक व्यक्ति चाँदी
की मुद्रा में भुगतान करना चाहता था और निर्बाध मुद्रा
निर्माण के कारण चाँदी की जितनी मुद्रा चाहें बन भी सकत
थी । इसका परिणाम यह हुआ कि ग्रेशम नियम के अनुसार
कम मूल्य की धातु की मुद्रा ने अधिक मूल्य की मुद्रा को
बाजार से निकाल कर बाहर किया ! फलतः बाजार से सोने
की मुद्रा लुप्त हो गयी । इसको रोकने के लिए ही फ्रांस की
सरकार ने चाँदी का निर्बाध मुद्रा निर्माण बन्द कर दिया ।
यद्यपि दोनों धातुओं की मुद्राएँ देश में चलती रहीं किन्तु इस
प्रकार देश में मुद्रा की मात्रा पर सरकार का नियंत्रण हो गया ।
जिस धातु की मुद्रा द्वारा दूसरी धातु की मुद्रा के हटाए जाने का भय
था उसकी मात्रा सीमित हो गई और इस प्रकार दूसरी धात की
मुद्रा का भी प्रयोग आवश्यक हो गया । यह ग्रेशम
नियम के प्रभाव से बचने का एक अच्छा उपाय था । इस प्रकार
का द्रव्य मान वैकल्पिक द्रव्य मान कहा जाता है ।

इस प्रकार का द्रव्य-मान सचमुच सुवर्णमान ही कहा
जाना चाहिए। इसका कारण यह है कि चाँदी की मुद्रा के

वास्तविक और द्रव्य मूल्य में बहुत अन्तर हो जाता है। चाँदी की मुद्रा एक प्रकार से सांकेतिक मुद्रा की श्रेणी में आ जाती है (यद्यपि अन्य मुद्राओं की भाँति वह सीमित प्रचलित द्रव्य नहीं होती है) और सोने की मुद्रा को ही पूर्ण रूप से प्रमाणिक मुद्रा समझना चाहिये।

समानान्तर द्रव्य-मान

विशुद्ध या पूर्ण द्विधातु मान की सब से बड़ी विशेषता यह है कि दोनों धातुओं का पारस्परिक अनुपात सरकार द्वारा निश्चित होता है। पुराने समय में इन धातुओं के मूल्य में इस प्रकार से कोई निश्चित अनुपात नहीं था बल्कि उनका पारस्पारिक अनुपात बाजार में प्रचलित उनके धातु-मूल्य के आधार पर निर्भर रहता था। इसी कारण उसमें प्रायः परिवर्तन भी हुआ करता था। इसे समानान्तर द्रव्य–मान इसलिये कहते हैं कि सोना और चाँदी दोनों धातुएँ अपना अलग-अलग अस्तित्व रखते हुये एक दूसरे के बराबर या समानान्तर स्वतन्त्र द्रव्य-मान की भाँति प्रयोग की जाती हैं। इस द्रव्य-मान का प्रधान लक्षण दोनों धातुओं के अनुपात की अस्थिरता है। लेकिन साथ-ही इसमें यह अपवाद नहीं है कि कोई एक धातु दूसरी धातु की अपेक्षा अधिक मूल्यवान होने के कारण ग्रेशम नियम के अनुसार प्रचलन के बाहर हो जाय।

द्विधातु-मान का इतिहास

द्विधातुमान का सबसे पहला प्रयोग अमेरिका में हुआ। सन् १७९२ ई० में सबसे पहिले चाँदी और सोने के बीच

१५:१ का सम्बन्ध स्थापित किया गया और दोनों धातुओं की मुद्राएँ अपरिमित कानूनी द्रव्य मानी गईं। उसके बाद सन् १८०३ में फ्रांस ने १५½ : १ के अनुपात के साथ द्विधातु-मान स्वीकार किया। अब अमेरिका में चाँदी और फ्रांस में सोने का मूल्य अधिक होने के कारण पहिले में चाँदी और दूसरे में सोना इकट्ठा होने लगा। अमेरिका ने इस पर नियंत्रण करने के लिए सोने का मूल्य बढ़ा दिया और १८३४ में वहाँ चाँदी सोने का अनुपात १६:१ कर दिया गया। इसका परिणाम यह हुआ कि सोने चाँदी का प्रवाह उलट गया और सोना अमेरिका में और चाँदी फ्रांस में इकट्ठा होने का उपक्रम करने लगी।

सन् १८५० के बाद कुछ ऐसे परिवर्तन हुए जिनके कारण द्रव्य मान के सम्बन्ध में बड़ी उथल पुथल मची। योरूप में फ्रांस, इटली, स्विटजरलैंड और बेल्जियम ने मिलकर लैटिन यूनियन बनाई जिसमें १८६८ में यूनान भी आ गया। उसके बाद योरोप के अधिकांश देश सुवर्ण मान की ओर झुकने लगे और संयोगवश अस्ट्रेलिया तथा कैलीफोर्निया में सोने की खानें निकलने से सोने की बढ़ती हुई माँग को पूरा करने के साधन भी उपलब्ध हो गए थे। इसका परिणाम यह हुआ कि चांदी की प्रतिष्ठा कम हो गई और सोने की तुलना में उसका बाजार भाव बहुत गिर गया। अमेरिका और लैटिन यूनियन दोनों स्थानों पर अब और कठिन संकट आया। सोना द्रव्य रूप में प्रायः लुप्त होने लगा और सरकारी अनुपात तथा सोने के

बाजार भाव में बहुत अधिक अन्तर हो गया। परिस्थितियों से विवश होकर १८७३ में संयुक्त राष्ट्र अमेरिका ने चांदी का निर्बाध मुद्रा निर्माण बन्द कर दिया और अगले वर्ष लेटिन यूनियन ने भी अमेरिका का अनुकरण किया। १८७८ और १८६८ में पेरिस तथा ब्रुसेल्स में द्विधातु-मान पर विचार करने के लिए अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन हुए किन्तु कुछ फल न निकला। १८६३ में भारत ने भी चांदी के निर्बाध मुद्रा निर्माण पर रोक लगा दी। १६०० में संयुक्त राष्ट्र अमेरिका ने द्विधातु-मान को तिलान्जलि देकर सुवर्ण मान अपना लिया। संसार के अनेक प्रमुख राष्ट्र इसके पहिले सुवर्ण मान अपना चुके थे। इस प्रकार १६०० शताब्दी के अन्त होते होते द्विधातु-मान के पुनर्जीवित होने की सम्भावना भी प्रायः समाप्त हो गई। जहाँ कहीं इस प्रकार का द्रव्य मान था वहाँ भी वह वैकल्पिक द्रव्य मान के रूप में अन्तिम दिन की राह देख रहा था।

कुछ लोगो के विचार से द्विधातु-मान की समाप्ति का कारण द्विधातु-मान के सिद्धान्त का दोषपूर्ण होना नहीं था। इसकी असफलता का सबसे बड़ा कारण इसका तितर बितर प्रयोग था। यदि संसार के सभी राष्ट्र इसे सोने चांदी के एक ही अनुपात के साथ अपना लेते तो यह सफलतापूर्वक चल सकता

था। किन्तु यह तो आदर्शवादी दृष्टिकोण है। यथार्थ में अनुभव यह बताता है कि ऐसे महत्वपूर्ण प्रश्नों पर सभी राष्ट्रों को एकमत कर सकना असम्भव होता है। इस प्रकार न ऐसी आदर्श परिस्थितियाँ हो सकेंगी और न द्विधातु मान को सफलता दिखाने का अवसर मिलेगा।



द्रव्य-मान-२





परिच्छेद पन्द्रह



द्रव्य मान—२

सुवर्ण—मान

यदि किसी देश का द्रव्य सुवर्ण मुद्रा के रूप में हो या नोट सुवर्ण में परिवर्तनीय हों अथवा द्रव्य का विनिमय मूल्य सुवर्ण के आधार पर निर्धारित हो तो उस देश का द्रव्य-मान सुवर्ण-मान कहलाता है। यद्यपि अनेक देशों में द्रव्य के मूल्य का अधार बहुत दिनों तक सुवर्ण रहा किन्तु सभी देशों में अथवा एक ही देश में सदैव सुवर्ण का प्रयोग एक समान नहीं हुआ है बल्कि अनेक प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष रूपों में सुवर्ण द्रव्य मान के रूप में प्रयुक्त हुआ है। सुवर्ण मान के इन्हीं विभिन्न स्वरूपों को हम आगे अध्ययन करेंगे।

विशुद्ध सुवर्ण-मान या सुवर्ण-मुद्रा-मान

जैसा नाम से स्पष्ट है इसकी मुख्य विशेषता यह है कि देश में प्रचलित मुद्रा सुवर्ण की होती हैं। नित्य के लेन देन में सुवर्ण मुद्रा का प्रयोग होता है और द्रव्य मान भी वही सुवर्ण मुद्रा होती है। इस प्रकार सुवर्ण मुद्रा का प्रयोग विनिमय के माध्यम और मूल्य की माप दोनों के लिए होता है। सुवर्ण मुद्रा सरकारी तौर पर अपरिमित कानूनी द्रव्य मानी है जाती और छोटे बड़े सब प्रकार के भुगतान सुवर्ण मुद्रा में ही होते हैं। सुवर्ण मुद्रा के प्रचलन का अर्थ यह नहीं है कि अन्य प्रकार का द्रव्य होता ही नही। अन्य प्रकार का द्रव्य भी प्रचलित हो सकता हैं किन्तु इस विषय में यह आवश्कयक है कि वह सुवर्ण मुद्रा में परिर्वतनीय हो। सरकार सोने का क्रय विक्रय मूल्य घोषित कर देती है जिसपर वह सोना खरीदने बेचने के लिये हाती है। देश का मुद्रा निर्माण निर्बाध होता है। कोई भी निश्चित मात्रा में सोना देकर सुवर्ण मुद्रा प्राप्त कर सकता है। सोना के आयात तथा निर्यात पर सरकार की ओर से किसी प्रकार का प्रतिबन्ध नहीं लगाया जाता। सोने का आयात और निर्यात उसके मूल्य के आधार पर होता रहता है।

सुवर्ण मुद्रा मान के गुण-दोष

इस प्रकार के द्रव्य मान का सबसे पहिला और बहुत ही महत्वपूर्ण गुण यह है कि द्रव्य का यह एक स्वाभाविक स्वरूप है। देश का द्रव्य सुवर्ण रूप में प्रचलित होने के कारण लोगों

का देश की द्रव्य सम्बन्धी व्यवस्था पर अटूट विश्वास रहता है। लोगों को द्रव्य रूप में सुवर्ण प्राप्त हो सकता जिससे वह अपनी बचत द्रव्य रूप में रख सकते हैं। यह बची हुई सम्पत्ति उत्पादन में पूँजी का काम देती और देश की समृद्धि में सहायक होती है।

दूसरा गुण यह है कि द्रव्य के अति-प्रसार पर अपने आप नियन्त्रण रहता है। मुद्रा उतनी ही बन सकती है जितना सुवर्ण उपलब्ध होगा और कागजी नोट भी सुवर्ण मुद्रा में बाध्य रूप से परिवर्तनीय होने के कारण सुवर्ण की मात्रा के ही आधार पर प्रचलित किए जा सकते हैं। यहां पर यह बात समझ लेने की है कि सुवर्ण एक संचित कोष के रूप में है। उसमें प्रतिवर्ष जितनी वृद्धि होती है वह पहिले वाली कुल मात्रा के अनुपात में प्रायः नगण्य होती है। इसी प्रकार जितना सुवर्ण नष्ट हो जाता है वह बहुत ही नाम मात्र का होता है। इसलिए सोने की मात्रा में वृद्धि का मुद्रा पर कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ता है। अतः द्रव्य की मात्रा पर नियंत्रण होने से अतिविस्तार के कारण उत्पन्न होने वाले अनेक संकटों से देश मुक्त रहता है।

द्रव्य की मात्रा में अति विस्तार अथवा संकोच न होने से द्रव्य के मूल्य में स्थिरता आ जाती है। इससे बाजार भाव में समय समय पर होने वाले अत्यधिक उतार चढ़ाव पर भी रोक लग जाती है। इस स्थिरता से उद्योग तथा व्यापार में

उन्नति होती है क्योंकि मूल्य में स्थिरता होने से उद्योगपतियों का ध्यान इधर उधर आकृष्ट न होकर उत्पादन वृद्धि में लगता है।

यही नहीं, सुवर्ण मुद्रा मान के प्रयोग से अन्य देशों के साथ देश के द्रव्य का विनिमय भाव भी स्थिर रहता है। इसका कारण यह है कि यदि दो देशों में सुवर्ण मुद्रा प्रचलित है तो विनिमय भाव का निश्चय उन मुद्राओं के धातु मूल्य के अनुपात में हो सकता है। विनिमय भाव की स्थिरता से दोनों देशों का व्यापार उन्नति करता है और इस प्रकार दोनों देशों को लाभ होता है। विनिमय-भाव घटने बढ़ने के कारण होने वाली उथल पुथल से भी देश को मुक्ति मिल जाती है।

सुवर्ण मुद्रा मान का सबसे बड़ा दोष यह है कि देश के भीतर मुद्रा रूप में चलने के लिए और विदेशों में भुगतान के लिए सोने की बहुत बड़ी मात्रा आवश्यक होती है। वास्तव में यही कारण है कि वाध्य होकर अन्ततः सभी देशों ने इस प्रकार के द्रव्य-मान को छोड़ दिया। यद्यपि नोटों के प्रचार से देश के भीतर सुवर्ण में कुछ बचत हो सकती है किन्तु इस प्रकार की बचत का बहुत सीमित उपयोग है। इसका कारण यह है कि प्रत्येक नोट सुवर्ण मुद्रा में परिवर्तनीय होने के कारण सुवर्ण मुद्रा के आधार पर ही प्रचलित किया जा सकता है।

सोने की कमी के कारण मुद्रा प्रचलन सम्बन्धी कठिनाई होती है जिसका औद्योगिक तथा व्यापारिक क्षेत्र में भी प्रभाव पड़ता है। हम पहिले कह चुके हैं कि सुवर्ण की मात्रा सीमित होती है। सुवर्ण के ही आधार पर द्रव्य का प्रसार हो सकने के कारण कभी कभी औद्योगिक तथा व्यापारिक माँग को पूरा करने के लिए जितना उचित प्रसार चाहिये उतना नहीं हो पाता जिससे उद्योग तथा व्यापार को धक्का लगता है।

तीसरा दोष यह है कि इस ढंग का सुवर्ण मान केवल विशेष परिस्थितियों में ही सफल हो सकता है। उनमें सबसे मुख्य बात यह है कि यदि सब नहीं तो कम से कम संसार के प्रमुख व्यापारिक देश इसी प्रकार का द्रव्य मान स्वीकार करें। दूसरी बात यह कि सोने के आयात-निर्यात पर कोई विघ्न न डाला जाय। ये दोनों बातें अधिक दिन तक नहीं चल सकती और इस कारण पूर्ण रूप से दृढ़ निश्चय देशों को भी अन्ततः इसे छोड़ देना पड़ा। कुछ लोगों के मतानुसार यह द्रव्य मान का दोष नहीं था, दोष था उन देशों का जिन्होंने आवश्यक नियमों का पालन नहीं किया। बात कुछ भी हो यह सत्य है कि यह द्रव्य मान बिना विशेष प्रबन्ध के सफलता पूर्वक नहीं चल सकता।

सुवर्ण धातु-मान

सुवर्ण धातु मान में सुवर्ण का प्रयोग मुद्रा रूप में नहीं बल्कि धातु रूप में होता है। वस्तुओं के मूल्य की माप का

आधार या मान दंड सुवर्ण ही रहता है किन्तु माध्यम के रूप में सुवर्ण मुद्रा का प्रयोग नहीं होता। सुवर्ण मुद्रा का प्रचलन न होने के कारण सुवर्ण मुद्रा का निर्माण भी नहीं होता। मुद्रा के स्थान पर कागजी नोटों का प्रयोग होता है। ये नोट मुद्रा का प्रतिनिधित्व नहीं करते और मुद्रा में परिवर्तनीय भी नहीं होते हैं। परन्तु फिर भी इनको एक विशेष मात्रा में सोने के साथ परिवर्तनीय कर देने के कारण इन नोटों का मूल्य स्थिर रखने में पूर्ण सफलता मिल जाती है। सुवर्ण मुद्रा मान की ही भाँति सोने का क्रय विक्रय मूल्य सरकारी तौर पर निर्धारित कर दिया जाता है जिस पर देश का केन्द्रीय बैंक सोना खरीदने बेचने के लिए बाध्य होता है। परन्तु इस सम्बन्ध में एक अन्तर यह है कि सुवर्ण मुद्रा मान में सुवर्ण की कम से कम मात्रा जो केन्द्रीय बैंक बेचेगा वह निश्चित नहीं होती किन्तु सुवर्ण धातु मान में यह मात्रा निश्चित रहती है। उदाहरण के लिए इंगलैंड में ४०० औंस से कम मात्रा में केन्द्रीय बैंक खरीद बिक्री का सौदा नहीं करता था। सोना के आयात् निर्यात के सम्बन्ध में पूर्ण रूप से उसी नीति का पालन होता है जो सुवर्ण मुद्रा मान के साथ व्यवहार में आती है। सोने के आयात निर्यात पर कोई भी रोक या बाधा नहीं उपस्थित की जाती है।

सुवर्ण धातु-मान के गुण-दोष

सुवर्ण धातु मान में सुवर्ण मुद्रा मान के सब गुणों के

अतिरिक्त कुछ अधिक गुण होते हैं । इन्हीं अधिक गुणों के कारण युद्ध के पश्चात अनेक देशों ने मुद्रा मान के स्थान पर धातु मान को अपनाया। सबसे बड़ा गुण यह है कि इसमें मुद्रा मान की तुलना में बहुत कम मात्रा में सोने की आवश्यकता होती है। मुद्रा रूप में प्रचलित प्रायः सब का सब सोना बच जाता है जिसका पूँजी रूप में प्रयोग कर लाभ उठाया जा सकता है। यही नहीं, मुद्रा के निर्माण में होने वाला खर्च भी बच जाता है क्योंकि मुद्रा के स्थान पर प्रचलित नोटों के छापने में उतना व्यय नहीं पड़ता है। साथ ही मुद्रा जब एक हाथ से दूसरे हाथ में जाती है तो उसमें घिसाव होता है और करोड़ो की संख्या में प्रचलित मुद्रा का थोड़ा थोड़ा घिसाव कुल मिला कर बहुत अधिक हो जाता है। सुवर्ण धातु मान में इस घिसाव के कारण होने वाली हानि नहीं होती है। सोने की कम मात्रा आवश्यक होने के कारण संसार के अधिक देश सुवर्ण धातु मान अपना सकते हैं। इसके अतिरिक्त देश में सोने पर सरकार या केन्द्रीय बैंक का नियन्त्रण रहता है। इससे सरकार अथवा केन्द्रीय बैंक द्वारा अन्य देशों के साथ द्रव्य का विनिमय भाव स्थिर रखने के लिए सोने का अच्छा उपयोग हो सकताहै।

इस द्रव्य मान में भी सुवर्ण मुद्रा मान की भाँति विशेष परिस्थितियों में ही सफल हो सकने का दोष उपस्थित है। बिना सभी देशों के सहयोग के इसका चलना असम्भव हो जाता है। दूसरा दोष यह है कि इस प्रकार के द्रव्य मान

ार लोगों का उतना विश्वास नहीं रहता
ुद्रा मान पर। इसका कारण यह है कि देश
ोना न होकर सोने के साथ अप्रत्यक्ष रूप से सम्बन्धित होता है।
ुवर्ण मुद्रा मान में सोना सामने उपस्थित रहता है और
ातु मान में नोट चलते हैं जिनके बदले सोना देने का केवल
चन दिया जाता है।

सुवर्ण विनिमय मान

सुवर्ण धातु मान से ही मिलता जुलता सुवर्ण विनिमय मान होता है। इस प्रकार के द्रव्य मान को अपनाने वाले देश में कागजी नोटों और हीन धातु की बनी प्रतीक मुद्राओं का द्रव्य रूप में प्रचार होता है। सोने का मूल्य निश्चित होता है और आयात निर्यात भी निर्विघ्न हो सकता है। अन्तर केवल यह है कि कागजी नोट और प्रतीक मुद्रा सुवर्ण अथवा सुवर्ण मुद्रा में उस प्रकार से परिवर्तनीय नहीं होते जैसे मुद्रा मान या धातुमान में होते हैं। केन्द्रीय बैंक, नोट और प्रतीक मुद्रा के बदले सोना देने का उत्तरदायित्व लेता है किन्तु इस प्रकार से प्राप्त सोने के प्रयोग पर नियन्त्रण लगा देता है। सोना केवल विदेशों में भुगतान के लिए ही दिया जाता है। देश के भीतर नोट आदि सोने में परिवर्तनीय नहीं होते हैं। जब व्यापारियों को विदेशी भुगतान के लिए सोने की आवश्यकता होती है तो उन्हें उस देश का द्रव्य वहाँ के बैंक से दिया जाता है। इस प्रकार विदेशी द्रव्य के

साथ अपने देश के द्रव्य का मूल्य स्थिर रखने का प्रयत्न किया जाता है।

सुवर्ण विनिमय मान के गुण-दोष

इस प्रकार के द्रव्य मान में सुवर्ण धातु-मान के प्राय: सभी गुण पाए जाते हैं। परन्तु इसमें सबसे बड़ा दोष यह है कि इसमें जन साधारण का विश्वास नहीं रहता है। द्रव्य का मूल्य विदेशी मुद्रा के सम्बन्ध में सुवर्ण के आधार पर रहता है। किन्तु देश के भीतर द्रव्य अपरिवर्तनीय होता है। इस प्रकार द्रव्य में विश्वास न होने से लोगों को बैंक में धन जमा करने और पूँजी लगाने में उत्साह नहीं रहता है। उत्पादन और व्यापार की कमी और उसके फलस्वरूप आर्थिक हीनता इसका परिणाम होता है।

दूसरा दोष यह है कि द्रव्य के अतिप्रसार पर किसी प्रकार की रोक नहीं रहती है। सच तो यह है कि इसमें केन्द्रीय बैंक अथवा सरकार को द्रव्य की मात्रा के साथ मनमानी करने का पूरा अवसर रहता है।

इन बुराइयों के होते हुए भी धातु मान की तुलना में इसमें एक गुण यह है कि सुवर्ण की बहुत थोड़ी मात्रा से काम चल जाता है और इस प्रकार सुवर्ण की बचत के कारण होने वाली सुविधाएँ इस प्रकार के द्रव्य मान में सब से अधिक हैं।

प्रचलित द्रव्य विनिमय मान

यह सुवर्ण विनिमय मान का ही एक सीमित स्वरूप है

हम पहिले देख चुके हैं कि सुवर्ण विनिमय मान में देश के द्रव्य के बदले विदेशी भुगतान के सुवर्ण लिए अथवा विदेशी द्रव्य दिया जाता है। इस काम के लिए जिन देशों से व्यापारिक सम्बन्ध होता है वहाँ के द्रव्य का प्रबन्ध सरकार को करना पड़ता है। यदि ऐसा नहीं हो सकता तो विदेशी भुगतान के लिए सरकार सोना देने का उत्तरदायित्व अपने ऊपर लेती है। इसके विरुद्ध मुद्रा विनिमय मान में सरकार अपने ऊपर केवल एक देश विशेष की मुद्रा अथवा प्रचलित द्रव्य देने का ही उत्तरदायित्व अपने ऊपर लेती हैं। सुवर्ण देने के उत्तरदायित्व से मुक्त होने के लिए किसी ऐसे देश के साथ एक प्रकार का आर्थिक सम्बन्ध स्थापित कर लिया जाता है जहां उस देश का प्रचलित द्रव्य संचित रहता है और बसमें से आवश्यकता पड़ने पर व्यापारियों को विदेशी भुगतान के लिए विनिमय प्राप्त हो जाता है। यह देश ऐसा होता है जिसका द्रव्य सर्व प्रिय होता है और इस कारण किसी भी देश को उस द्रव्य के द्वारा भुगतान करने में कठिनाई नहीं पड़ती है। अपने व्यापारिक तथा आर्थिक महत्व के कारण इङ्गलैंड और संयुक्त राष्ट्र अमेरिका का पाउंड स्टर्लिंग और डालर संसार के दो सर्व प्रिय द्रव्य रहे हैं। इन्हीं के नाम पर इस प्रकार के द्रव्य विनिमय मान के नाम स्टर्लिंग विनिमय मान और डालर विनिमय मान भी पड़ गए हैं।

प्रचलित द्रव्य विनिमय मान के गुण-दोष

इस प्रकार का द्रव्य मान सुवर्ण विनिमय मान स एक बात में श्रेष्ठ है कि देश में सोने का बहुत अधिक संचय नहीं करना पड़ता और न अनेक देशों के द्रव्य का प्रबन्ध ही करना पड़ता है। इस दृष्टि से यह बड़ा ही सरल तथा सुगम है। परन्तु सुवर्ण विनिमय मान की तुलना में इसका एक बहुत ही महत्वपूर्ण दोष यह है कि यह एक पराधीन द्रव्य मान हो जाता है। सरकार एक देश के द्रव्य के साथ अपने द्रव्य का विनिमय मूल्य स्थिर रखती है। इसका परिणाम यह होता है कि विनिमय मूल्य में परिवर्तन का प्रभाव सम्बन्धित द्रव्य पर भी पड़ता है। जब प्रभावशाली देश सुवर्णमान पर होता है जो उतार चढ़ाव कुछ अधिक नहीं होता किन्तु सुवर्णमान छोड़ देने पर देश की आर्थिक तथा द्रव्य सम्बन्धा परिस्थितियों के आधार पर बहुत अधिक उथल पुथल हो सकती है और तब इसका सबसे अधिक दुष्परिणाम उसके ऊपर निर्भर देश को भुगतना पड़ता है। इसके अतिरिक्त दूसरे देश की आर्थिक तथा द्रव्य सम्बन्धी परिस्थितियों के आधार पर विनिमय सम्बन्ध स्थापित करना अस्वाभाविक भी है। प्रत्येक देश द्रव्य नीति में अपनी आर्थिक आवश्यकताओं के अनुसार परिवर्तन करता है। अतः यह सम्भव है कि इन परिवर्तनो के कारण विनिमय सम्बन्ध में किये गये परिवर्तनो का प्रभाव आश्रित देश के

लिये हानि कर हो। इसी कारण इस प्रकार का द्रव्य मान राजनैतिक तथा आर्थिक दृष्टि से पराधीन देश ही प्रयोग में लाते हैं। भारत को अपनी पराधीनता के ही कारण स्टर्लिंग विनिमय मान अपनाना पड़ा।

सुवर्ण मान का इतिहास

द्रव्य मान के रूप में सुवर्ण के अकेले प्रयुक्त होने का प्रमाण उन्नीसवीं शताब्दी के पहिले यदा कदा ही मिलता है। सुवर्ण मुद्रा प्रचलित थी किन्तु उसके साथ चाँदी ताँबे आदि की मुद्राएँ भी चलती रहीं। चाँदी अकेले द्रव्य मान का काम अनेक देशों में और बहुत प्राचीन समय में कर चुकी है किन्तु अकेले सुवर्ण की मुद्रा आधार मुद्रा नहीं रही। इसका सबसे मुख्य कारण यह था कि सुवर्ण अत्यन्त दुर्लभ होने के कारण पहिले इतना अधिक मूल्यवान था कि उसकी छोटी से छोटी मुद्रा भी बहुत अधिक मूल्य की बनती थी इससे बड़ी अड़चन थी क्योंकि उद्योग तथा व्यापार के पूर्ण विकसित न होने के कारण अधिक मूल्य का विनिमय बहुत ही कम होता था।

प्रथम विश्व युद्ध के पहिले तक सुवर्ण मान का अर्थ बहुत ही सीमित था। सुवर्ण मुद्रा मान को ही सुवर्ण मान कहते थे। इस रूप में इसका सर्व प्रथम प्रयोग १८१६ में इङ्गलैंड ने प्रारम्भ किया और प्रथम विश्वयुद्ध तक इस पर दृढ़ रहा। अन्य देशों ने इङ्गलैंड की भाँति चाँदी को द्रव्यशक्ति

से बंचित नहीं किया बल्कि अभी तक प्रचलित समानान्तर द्रव्य मान को पूर्ण द्विधातुमान का रूप दे दिया। द्विधातुमान के प्रसंग में हम देख चुके हैं कि किस प्रकार संयुक्त राष्ट्र अमेरिका, फ्रांस तथा लैटिन यूनियन के अनेक योरोपीय देशों ने सोने और चाँदी को द्रव्य मान स्वीकार करके उनके बीच विनिमय का सरकारी अनुपात निश्चित कर दिया था। परन्तु अनेक कारणों से जिनका अध्ययन हम द्विधातु मान के सम्बन्ध में कर चुके हैं इस प्रकार का द्रव्य मान अधिक दिन सफलतापूर्वक चल नहीं सका। दूसरी ओर इङ्गलैंड की सुवर्ण के आधार पर एक धातुमान की सफलता लोगों को आकर्षित कर रही थी। परिणाम यह हुआ कि उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त होते होते संसार के प्रायः सभी प्रमुख राष्ट्रों ने द्विधातुमान को छोड़कर सुवर्ण को ही द्रव्य मान स्वीकार कर लिया। इस प्रकार जब पिछला विश्वयुद्ध प्रारम्भ हुआ तब चीन, भारत तथा कुछ और छोटे देशों को छोड़कर सारे संसार में सुवर्ण मुद्रा ही व्यापार तथा विनिमय का आधार थी।

प्रथम विश्वयुद्ध के पूर्व प्रचलित सुवर्ण मान की तीन मुख्य विशेषताएँ थीं। पहिली विशेषता यह थी कि प्रत्येक देश ने प्रचलित द्रव्य की इकाई का सुवर्ण मूल्य निश्चित कर दिया था। उदाहरण के लिए इङ्गलैंड का सावरेन तोल में १२३.२७४४७ ग्रेन ऐसे सोने के बराबर था जो ११/१२

विशुद्ध हो और अमरीका का एक डालर ६/१० विशुद्धता वाले २५ . ८ ग्रेन सोने के बराबर था। सुवर्ण की इन्हीं मात्राओं के आधार पर देश का केन्द्रीय बैंक देश के प्रचलित द्रव्य के बदले सोना लेने और देने को प्रस्तुत रहता था। सोना लेने और देने के मूल्यों में यद्यपि अन्तर था किन्तु वह अन्तर केवल बैंक के इस लेन देन के खर्च भर के लिए ही पर्याप्त था। यदि हम इङ्गलैंड का उदाहरण लें तो वहां १ औंस सोने को बैंक आफ इङ्गलैंड ३ पौं० १७ शि० ६ पेंस में मोल लेता था और उसे ३ पौं० १७ शि० १० १/२ पें० में देता था।

दूसरी विशेषता यह थी कि माल के आयात और निर्यात पर सरकार किसी प्रकार की रोक टोक नहीं लगाती थी। ऋणी देश ऋण का भुगतान अधिक माल भेज कर कर सकता था। तीसरी विशेषता द्रव्य की मात्रा के सम्बन्ध में थी। देश में आने वाले और देश के बाहर जाने वाले सोने की मात्रा के आधार पर सरकार अपनी ऋण नीति इस प्रकार नियन्त्रित करती थी कि सोने की मात्रा बढ़ने पर द्रव्य की मात्रा बढ़े और उसके घटने पर द्रव्य की मात्रा घटे इस प्रकार से वस्तुओं के मूल्य में अपने आप सामञ्जस्य बना रहता था। यदि देश में वस्तुओं का मूल्य कम होने के कारण निर्यात अधिक होता था तो यह परिस्थिति अधिक समय नहीं चलने पाती थी। अधिक निर्यात के फलस्वरूप आए हुए सोने के कारण देश में प्रचलित द्रव्य की मात्रा बढ़ जाती थी जिसका परिणाम यह होता था कि द्रव्य के मूल्य में कमी अथवा दूसरे

शब्दों में वस्तुओं के मूल्य में वृद्धि हो जाती थी। जिससे निर्यात के स्थान पर आयात अधिक होने लगता था और और आया हुआ अधिक सोना अपने आप आयात का मूल्य चुकाने में बाहर चला जाता था। इस प्रकार अपने आप वस्तुओं के मूल्य में होने वाली उथल पुथल में संशोधन हो जाया करता था।

परन्तु प्रथम विश्वयुद्ध के प्रारम्भ होते ही परिस्थिति बदल गई। प्रायः सभी देशों ने सुवर्णमान को स्थगित कर दिया। युद्ध सम्बन्धी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए कागजी द्रव्य की भरमार हो गई। आयात निर्यात पर रोक लग जाने के कारण सामञ्जस्य स्थापित करने के लिए स्वतः चलने वाला चक्र बन्द हो गया। सोने का मूल्य और उसी के साथ अन्य वस्तुओं का मूल्य अति की सीमा तक बढ़ा। परन्तु युद्ध समाप्त होते ही फिर से सुवर्ण मान की स्थापना के प्रयत्न होने लगे। इस सम्बन्ध में अर्थशास्त्रियों में बड़ा विवाद रहा परन्तु एक बार फिर संसार का निर्णय सुवर्ण मान के पक्ष में रहा।

प्रथम विश्व युद्ध के बाद जिस सुवर्ण मान का प्रचलन हुआ वह युद्ध के पूर्व प्रचलित सुवर्ण मान से बहुत कम मेल खाता था। युद्ध में सभी देशों के द्रव्य का मूल्य बहुत गिर गया था। इसलिये प्रचलित द्रव्य का सुवर्ण के साथ पुराना सम्बन्ध सर्वथा अनुचित जान पड़ता था। इसमें सुधार करने के लिए दो मार्ग अपनाए गए। पहिला मार्ग संकोच द्वारा द्रव्य का मूल्य

बढ़ाकर पुराने स्थान पर ले आने का था जिसे इंगलैंड ने अपनाया। दूसरा मार्ग द्रव्य के प्रस्तुत मूल्य के आधार पर ही उसका सुवर्ण के साथ सम्बन्ध स्थापित करके उसके मूल्य में संकोच करने का था, जिसे फ्रांस ने अपनाया। इस प्रकार १९२५ में इंगलैंड ने फिर से सुवर्ण मान को अपनाया किन्तु इस बार अपनाया हुआ द्रव्य मान सुवर्ण धातु मान था। सुवर्ण धातु मान को ही इंगलैंड के साथ अन्य देशों ने भी अपनाया। परन्तु इस बार वह अधिक दिन तक न चल सका और १९३१ में प्रायः सदैव के लिए वह समाप्त हो गया।

सुवर्ण मान के असफल होने का प्रधान कारण यह था कि संसार के प्रमुख राष्ट्रों ने उन नियमों का पालन करना छोड़ दिया जिनके आधार पर सुवर्ण मान एक निर्बाध प्रवाह के रूप में चल सकता था। इंगलैंड से सोना जा रहा था और अमेरिका में इकट्ठा हो रहा था किन्तु सोने के इस स्थानान्तर का वस्तुओं के मूल्य पर प्रभाव दोनों देशों में बरबस रोका गया। इंगलैंड पाउंड का मूल्य डालर के सम्बन्ध में १० प्रतिशत अधिक था और इस कारण अमेरिका से आने वाली वस्तुओं की तुलना में इंगलैंड की वस्तुएँ १० प्रतिशत अधिक मूल्य की पड़ती थीं। गलैंड के आर्थिक संगठन में यह असम्भव सिद्ध हुआ कि मजदूरी आदि कम करके वस्तुओं का लागत मूल्य कम किया जाता। इस कारण आयात अनिवार्य था। दूसरी ओर रिका आयात के मूल्य के भुगतान में माल लेने को तैयार

नहीं था। माल के आयात पर बाधा लगाकर अमेरिका सोना इकट्ठा करने में जुटा था।

दूसरी ओर फ्रांस का निर्यात बढ़ रहा था और वह भी इस निर्यात के भुगतान में पाए हुए धन को विदेशों में लगाने के स्थान पर सुवर्ण रूप में एकत्रित कर रहा था, परन्तु सरकार की द्रव्य सम्बन्धी नीति ऐसी थी कि सोने को इस बढ़ती हुई मात्रा का देश के द्रव्य और उसके द्वारा वस्तुओं के मूल्य पर कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ पाता था। इस प्रकार हम देखते हैं कि संसार के प्रमुख राष्ट्रों ने नियमों की अवहेलना की जिसके कारण सुवर्ण मान के प्रयोग में अनेक बाधाएँ उठ खड़ी हुईं और अन्त में उसे समाप्त भी कर दिया।

यही नहीं युद्ध के बाद राजनैतिक तथा आर्थिक परिस्थितियां भी कुछ ऐसी बदल गई थीं कि सुवर्ण मान के निर्बाध प्रयोग में बाधक होने लगीं। यातायात और बीमा का व्यय कम होने के कारण सोने का आयात-निर्यात अधिक सुगम हो गया और दो देशों के बीच विनिमय मूल्य में साधारण उतार चढ़ाव होते ही सोना आने जाने लगता था। साथ ही युद्ध के परिणाम स्वरूप अनेक देशों पर आर्थिक दंड लादा गया जिसका भुगतान माल देकर नहीं हो पाता था और इस प्रकार धनहीन देशों का सोना निकला जा रहा था। इसीलिए सोने के निर्यात पर रोक लगाकर सोना देश में ही रोकने का प्रयत्न होने लगा। इसके अतिरिक्त बरबस लादे हुए आर्थिक दंड और आयात पर

लगाई गई रोक के कारण देशों के बीच सद्भाव का अन्त हो गया, व्यापार अस्त व्यस्त हो गया और सुवर्ण मान का मूल आधार हिल गया । इसी बीच विश्वव्यापी बैंक-संकट भी उपस्थित हुआ । प्रायः सभी देश इंगलैंड से अपना धन हटाने लगे जिसका भुगतान इंगलैंड को सोने में करना पड़ रहा था । सोने का इतनी बड़ी मात्रा में बाहर जाना इंगलैंड की सहनशक्ति के बाहर था इसी कारण सन् १६३१ में उसे लड़खड़ाते हुए सुवर्ण मान का अन्त कर देना पड़ा ।

आदर्श द्रव्य मान के गुण

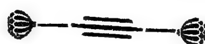
पिछले दो परिच्छेदों में हमने द्रव्य मान के विभिन्न रूपों का अध्ययन किया । इनमें कौन सा द्रव्य मान अधिक उपयुक्त है यह तय करने के लिए आदर्श द्रव्य मान के गुण जानना आवश्यक है । इन गुणों में निम्नलिखित प्रमुख हैं:

(१) द्रव्य मान इतना सरल होना चाहिए कि लोग उसे बिना परिश्रम के समझ सकें । ऐसा होने से लोगों का उसके प्रति विश्वास होगा जिससे उसके सफल संचालन में लोगों का अधिक से अधिक सहयोग प्राप्त हो सकेगा ।

(२) द्रव्य मान ऐसा होनो चाहिए कि उसके चलाने में अधिक व्यय न हो । अधिक व्ययशील होने से कोई भी द्रव्य मान स्थायी रूप से सदैव नहीं चल सकता और आर्थिक संकट के समय तो उसका असफल होना निश्चय ही समझना चाहिए । उसके चलाने में बहुमूल्य धातुओं का यथासम्भव अधिक व्यय नहीं होना चाहिए ।

(३) द्रव्य मान इस प्रकार का होना चाहिए जिससे समयानुसार उसमें आवश्यक परिवर्तन किये जासकें। लेकिन इन परिवर्तनों से उसके वास्तविक स्वरूप में किसी प्रकार की अस्वाभाविकता न आने पाये। साथ ही द्रव्य मान में इतनी लचनशीलता होनी चाहिए कि जिससे उसका द्रव्य की मात्रा पर इतना प्रभाव हो कि उसमें व्यापार तथा उद्योग की आवश्यकतानुसार उचित वृद्धि या कमी की जा सके। यदि ऐसा नहीं होगा तो सम्भव है कि देश के व्यापार को धक्का लगे।

इसी सम्बन्ध में यह भी आवश्यक है कि द्रव्य मान ऐसा होना चाहिए जिसके द्वारा विनिमय,वस्तुओं का मूल्य और द्रव्य की मात्रा में स्थिरता स्थापित की जा सके। इन सब बातों में स्थिरता स्थापित करके ही किसी देश में आर्थिक शान्ति हो सकती है। सफल द्रव्य मान की यही पहिचान है कि देश में द्रव्य के कारण किसी प्रकार की आर्थिक अशान्ति अथवा असन्तोष न होने पावे और देश का समस्त विनिमय कार्य जिसे सफल बनाने के लिए द्रव्य का जन्म हुआ सुचारु रूप से सदैव सम्पन्न होता रहे। जिस द्रव्य मान के द्वारा यह सम्भव हो वही आदर्श द्रव्य मान समझना चाहिए।



विदेशी विनिमय



- विदेशी विनिमय की आवश्यकता
- विदेशी विनिमय का अर्थ
- विनिमय दर
- विनिमय दर की अनुकूलता और प्रतिकूलता
- विनिमय दर में परिवर्तन का प्रभाव
- विनिमय दर निश्चित करने के सिद्धान्त
- विनिमय दर की घटा बढ़ी
- विनिमय नियंत्रण



परिच्छेद सोलह



विदेशी विनिमय

विदेशी विनिमय

आज कल का समस्त संसार एक बृहत् किन्तु सम्मिलित परिवार के रूप में हमारे सामने आता है। यह सोचना बहुत भूल है कि कोई देश अन्य देशों से सम्बन्ध तोड़ कर आर्थिक, सामाजिक या राजनैतिक किसी भी दृष्टिकोण से अलग रह सकेगा। व्यापार के ही क्षेत्र में हम देखते हैं कि उस पर पूर्ण रूप से अंतर्राष्ट्रीयता की छाप लग चुकी है।

हम अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये अनेक वाह्य देशों से सामान मँगाते हैं और अपने यहाँ की वस्तुएँ अन्य देशों को भेजते हैं। साधारण वस्तुओं के अतिरिक्त सोना और चांदी का भी आयात और निर्यात होता है। साथ ही विदेशी लेनदेन में न केवल वस्तुओं का व्यापार शामिल है वरन् मनुष्यों

की सेवायें भी। हमारे यहाँ के मनुष्य दूसरे देशों में कार्य कर रहे हैं और इसी प्रकार अन्य देशवासी हमारे देश में कार्य कर रहे हैं। इसके अतिरिक्त कुछ लोग देश भ्रमण के निमित्त आया ाया करते हैं। विद्यार्थी देश विदेश पढ़ने के हेतु आते जाते हैं ामय समय पर एक राज्य दूसरे राज्य से या एक देश के ोग दूसरे देश के लोगों से पूँजी, सूद अथवा ऋण के रूप में ान का लेनदेन करते रहते हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि इन ाब कारणों से दो देशों के बीच द्रव्य का लेनदेन होना स्वाभा- ंक ही नहीं अपितु आवश्यक भी है। परन्तु क्या हमने कभी ाह सोचा है कि दो विभिन्न देशों के बीच द्रव्य का यह लेन न कैसे होता है ? हमें विदित है कि हमारे देश की ुद्रा या नोट अन्य देशवासियों के लिये अनिवार्य रूप से ान्य नहीं और न हम अन्य देश की मुद्रा अथवा नोट स्वीकार ारने के लिये बाध्य किये जा सकते हैं। साथ ही हम यह भी ानते हैं कि अभी तक कोई ऐसा साधन भी नहीं निकाला जा ाका जिसके द्वारा संसार के सब देश एक ही रूप में अपना ापना ऋण इत्यादि चुका सकें। कहने का तात्पर्य यह है कि ाभी तक अंतर्राष्ट्रीय द्रव्य का प्रयोग नहीं हुआ है। ऐसी रिस्थिति में अन्य देशों से हमारा लेन देन किस प्रकार होता और उसके क्या साधन हैं – यह जानना ही इस अध्याय का ाषय है। हमारे प्रस्तुत विषय से इस ज्ञान का बहुत ही घनिष्ट म्बन्ध है क्योंकि बिना इस ज्ञान के द्रव्य का अध्ययन अधूरा

और संकुचित रह जाता है। अतः अब हम क्रमशः इसी विषय पर प्रकाश डालेंगे।

१—विदेशी विनिमय का अर्थ

जैसा ऊपर संकेत किया गया है विदेशी विनिमय वह ज्ञान है जिसके द्वारा हम यह जान सकें कि एक देश के मनुष्य अन्य देश वासियों के साथ द्रव्य का लेनदेन या विनिमय किस प्रकार करते हैं। विदेशी विनिमय के अध्ययन के लिये हमें यह जानना चाहिए कि दो विभिन्न देशों के बीच विनिमय दर क्या है और साथ ही वह विनिमय दर किस प्रकार निर्धारित की जाती है। यद्यपि विभिन्न देशों की मुद्राओं का पारस्परिक विनिमय नहीं किया जाता, परन्तु फिर भी उदाहरण स्वरूप विनिमय दर की सहायता से हम यह मालूम कर सकते हैं कि किसी भी देश से मंगाये हुये माल के लिये उसी देश की मुद्रा में मूल्य चुकाने के लिए हमें अपने देश की कितनी मुद्रा देनी पड़ेगी। इस प्रकार विदेशी विनिमय से हमारा अर्थ देश विदेश के द्रव्य के पारस्परिक विनिमय से है। दूसरे शब्दों में एक देश के द्रव्य को दूसरे देश के द्रव्य के साथ विनिमय करने के कार्य को विदेशी विनिमय कहा जाता है। विदेशी विनिमय का यह कार्य सरल नहीं है। केवल थोड़े ही बैंक इस कार्य में विशेषज्ञ होते हैं और उन्हें विदेशी विनिमय बैंक कहते हैं। बाहर देशों में भुगतान देने वालों से विनिमय दर के हिसाब से वह अपने देश की मुद्रा बराबर मूल्य

में ले लेते हैं और उन्हें उतने ही मूल्य की बैंक की हुण्डी अथवा विदेशी हुण्डी दे देते हैं। बाद में यह हुण्डी उस देशवासी के पास भेज दी जाती है जिसे भुगतान देना होता है। इस प्रकार वह अपने देश में स्थित हुण्डी में लिखे हुये बैंक से हुण्डी का मूल्य अपने यहाँ की मुद्रा में पा सकता है। अतः वह अध्ययन जिसके द्वारा इन सब बातों का हमें भली भाँति ज्ञान हो सके विदेशी विनिमय कहलाता है। वर्तमान अंतर्राष्ट्रीय युग में विदेशी विनिमय का ज्ञान होना अत्यन्त आवश्यक है। उसका प्रभाव हमारे समस्त कार्यक्षेत्र पर पड़ता है।

विनिमय—दर

ऊपर संकेत किया जा चुका है कि विदेशी विनिमय में विनिमय दर का बहुत महत्व है। इसी दर के अनुसार समस्त विदेशी लेन-देन अथवा भुगतान किया जाता है। विनिमय दर से हमारा आशय उस दर या अनुपात से है जिसके अनुसार एक देश का द्रव्य दूसरे देश के द्रव्य के साथ विनिमय किया जाय। विनिमय दर की सहायता से दो देशों के बीच द्रव्य का पारस्परिक सम्बन्ध सरलता से स्थापित किया जा सकता है; जैसे भारत और इंगलैंड के बीच विनिमय दर १ रुपया=१ शिलिंग ६ पेन्स है। जैसा पहिले कहा गया है वास्तव में मुद्राओं का परिवर्तन नहीं होता बल्कि यह कार्य विदेशी बिल अथवा हुण्डी के द्वारा बैंकों की मध्यस्थता में सम्पादित होता है।

हर समय हर देश में ऐसे व्यापारी मिलते हैं जिन्हें अन्य दे
वाले व्यापारियों को या तो आयात किए गए सामान का मूल
देना होता है या उनसे निर्यात किये गए सामान का मूल्य
होता है। जो लोग बाहर से माल इत्यादि मँगाते हैं वह
देश वालों के ऋणी होते हैं और वह उन देशों में प्रचलि
द्रव्य की माँग प्रस्तुत करते हैं। वह चाहते हैं कि बैंक आ
संस्थाओं से उन्हें विदेशी बिल या हुण्डी मिल जाय जिस
वह अपनी ऋण चुका सकें। ठीक इसी भाँति वह लोग ज
अन्य देशों को माल भेजते हैं मोल लेने वाले व्यापारियों
नाम हुण्डियाँ लिख देते हैं और इन हुण्डियों को अपने यह
विदेशी विनिमय बैंकों से भुनाने का प्रयत्न करते हैं। जि
दर से बैंक इस प्रकार का देश विदेश की मुद्राओं का लेन दे
करें उसी को विदेशी विनिमय की दर कहते हैं।

विनिमय दर का भाव दो प्रकार से बताया जा सकता
एक उपाय यह है कि हम अपने देश के द्रव्य की एक निश्चि
मात्रा का भाव अन्य देश के द्रव्य में बतायें जैसे १रुपया=१शि
६पें०। और दूसरा ढंग यह है कि अन्य देश के द्रव्य की ए
निश्चित मात्रा का भाव हम अपने देश के द्रव्य में बतायें जै
(पहिले उदाहरण के आधार पर) १शि०=१०आ० ८पाई। संसा
के विभिन्न देशों में ये दोनों ढंग व्यवहार में लाये जाते हैं।

इससम्बन्ध में एक बात और ध्यान देने योग्य है। यद्यपि
उदाहरण में हमने कहा है कि १ रु० = १ शि० ६ पे० परन्

इसका आशय यह कदापि नहीं है कि यह दर सदैव एक समान बनी रहती है और उसमें कभी कोई परिवर्तन नहीं होता। विनिमय दर में प्राय: घटा बढ़ी हुआ करती है इसके अनेक कारण हैं जिनका आगे चलकर हम विवेचन करेंगे।

विनिमय दर की अनुकूलता और प्रतिकूलता

विनिमय दर के बढ़ने और घटने के सम्बन्ध में बहुधा दो अनुकूल और प्रतिकूल शब्दों का प्रयोग किया जाता है। इस लिए विनिमय दर का अर्थ समझने के बाद अब हम यह जानने का प्रयत्न करेंगे कि दर किसी देश के लिए अनुकूल और प्रतिकूल कब होती है।

हमने ऊपर कहा है कि विनिमय दर का भाव दो प्रकार से बताया जा सकता है। इसलिए निश्चित रूप से यह नहीं कहा जा सकता कि अमुक देश के लिए बढ़ती हुई या घटती हुई दर आवश्यक रूप से अनुकूल अथवा प्रतिकूल होगी बल्कि हमें यह बात याद रखनी चाहिए कि यदि किसी देश की मुद्रा का मूल्य विदेशी मुद्रा को देखते हुए बढ़े तो वह दर अनुकूल होगी और यदि देश की मुद्रा का मूल्य घटे तो वह दर उस देश के लिए प्रतिकूल होगी। हमने ऊपर उदाहरण में कहा है कि १रु०= १ शि० ६पे० अब यदि किसी समय यह दर घटकर १शि० ५$\frac{3}{4}$ पे० हो जाए या बढ़ कर १शि०–६$\frac{1}{4}$ पे० हो जाय तो अपने देश के लिए पहिली दशा में दर प्रतिकूल होगी और दूसरी दशा में वह अनुकूल होगी क्योंकि भारत के रुपये का

मूल्य पहिली दशा में दर घटने से कम होता है और दूसरी दशा में उसके बढ़ने से वह अधिक होता है। ठीक इसके विपरीत यदि भाव दूसरे प्रकार से दिया जाए अर्थात् १ शि०=१० आ० ८ पाई तो हमारे देश के लिए इसके ऊपर बढ़ती हुई दर प्रतिकूल होगी और उसके नीचे घटती हुई दर अनुकूल होगी क्योंकि दर बढ़ने से दूसरे देश कीउतनी ही निश्चित मात्रा के लिए हमें अपने देश की अधिक मुद्रा देनी पड़ेगी और दर की गिरती हुई दशा में हमें कम देना पड़ता है। संक्षेप में यह बात हम इस प्रकार याद कर सकते हैं।

(१) यदि दर का भाव विदेशी मुद्रा में हो तो बढ़ती हुई दर अनुकूल होगी और घटती हुई दर प्रतिकूल होगी।

(२) यदि दर का भाव देशी मुद्रा में हो तो घटती हुई दर अनुकूल होगी और बढ़ती हुई दर प्रतिकूल होगी।

विनिमय दर में परिवर्तन का प्रभाव

विनिमय दर की अनुकूलता और प्रतिकूलता का प्रभाव देश के विभिन्न वर्ग के लोगों पर अलग अलग पड़ता है। दर अनुकूल होने से देश के द्रव्य का मूल्य विदेशी द्रव्य के मूल्य की तुलना में बढ़ता है। इससे विदेश से माल मगाने वालों को लाभ होता है क्योंकि उन्हें अपने देश के द्रव्य के उतने ही मूल्य में विदेश से अब अधिक मूल्य की वस्तुएँ मिल सकती हैं। उदाहरण के लिए यदि भारत और इंगलैंड के बीच दर १शि० ६ पेन्स से १ शि० ७पे० हो जाय और यदि इंगलैंड के मूल्यस्तर में परिवर्तन न हो

तो यहाँ माल मँगाने वालों को एक रुपये के बदले अब १शि ७ पेंस का माल मिल जावेगा। परन्तु इस प्रकार आयात व्यापार बढ़ने से देश के उद्योग धन्धों पर हानिकर प्रभाव पड़ता है। लेकिन यदि सरकार को विदेश में ऋण चुकाना हो तो उसे लाभ होता है क्योंकि विदेशी द्रव्य में निश्चित किये गये मूल्य को बढ़ी हुई दर के अनुसार चुकता करने से अपने देश का कम द्रव्य देना पड़ेगा। इसी प्रकार उन लोगों को भी लाभ होता है जो विदेशों को द्रव्य भेजते हैं क्योंकि दर बढ़ जाने से अपने देश के द्रव्य की उतनी ही मात्रा भेजकर विदेश में अधिक द्रव्य मिलेगा। उदाहरण के लिये जैसे यदि भारत और इंगलैंड के बीच दर १८ पें० से १६ पें० हो जाय तो भारत में एक रुपया देकर इंगलैंड में पाने वाले को अब १८ पेंस के बजाय १६ पेंस मिल सकेंगे। दर प्रतिकूल होने से उलटा प्रभाव पड़ता है। निर्यात बढ़ते हैं और देश के उद्योग धन्धों की वृद्धि होती है। परन्तु विदेश में ऋण चुकता करने वालों को हानि होती है।

विनिमय दर निश्चित करने के सिद्धान्त

विनिमय दर किस प्रकार निर्धारित होती है। इस विषय में कुछ प्रमुख सिद्धान्त हैं जिनका समझ लेना उचित है। सब से पहिला सिद्धान्त विदेशी व्यापार से सम्बन्ध रखता है। इस विदेशी व्यापार सम्बन्धी सिद्धान्त के अनुसार विदेशी विनिमय दर आयात और निर्यात के अन्तर पर निर्भर है। जो व्यापारी विदेश को सामान भेजते हैं वे हुण्डियों के रूप में एक प्रकार

से विदेशी मुद्रा बेंचते हैं और जो विदेश से सामान मँगाते हैं वह अपना ऋणचुकता करने के लिये विदेशी मुद्रा मोल लेते हैं। यदि किसी देश के आयात की अपेक्षा निर्यात व्यापार अधिक होगा तो उस समय उस देश में विदेशी मुद्रा की पूर्ति की अपेक्षा समय माँग कम होगी अतः उसका मूल्य कम होगा और देशी मुद्रा का मूल्य बढ़ेगा अर्थात् देशी मुद्रा के विनिमय में विदेशी मुद्रा अधिक मिलेगी। इसी प्रकार यदि दर का भाव उस देश में विदेशी मुद्रा में दिया जाता तो दर बढ़ेगी और यदि दर का भाव देशी मुद्रा में है तो दर घटेगी। इसके विपरीत यदि निर्यात की अपेक्षा आयात अधिक हुआ तो देशी मुद्रा का मूल्य विदेशी मुद्रा के विनिमय में कम होगा क्योंकि विदेशी मुद्रा चाहने वाले लोग अधिक होंगे। फलतः उसका मूल्य बढ़ेगा। संक्षेप में यह भी कहा जा सकता है कि यदि आयात की अपेक्षा निर्यात अधिक है (या विदेशी व्यापार का अन्तर अनुकूल है) तो विनिमय दर भी अनुकूल होगी और यदि निर्यात की अपेक्षा आयात अधिक है (या विदेशी व्यापार का अन्तर प्रतिकूल है) तो विनिमय दर भी प्रतिकूल होगी। यह सिद्धान्त ठीक अवश्य है किन्तु लोगों का एक विरोध है। उनका कहना है कि विनिमय दर विदेशी मुद्रा के लेन-देन पर निभर है और विदेशी मुद्रा का लेन-देन न केवल आयात और निर्यात के ऊपर निर्भर है बल्कि कुछ और भी बाते हैं (जिनका हमने इस अध्याय के आरम्भ

में उल्लेख किया है) अतः यह कहना कि विनिमय दर केवल साधारण आयात् और निर्यात के अन्तर पर निर्भर है उचित न होगा।

२—विनिमय दर निश्चय करने का दूसरा सिद्धान्त मुद्राओं के टकसाली मूल्य से सम्बन्ध रखता है। इस सिद्धान्त के अनुसार दो देशों की प्रामाणिक मुद्राओं का जो धातु रूप में मूल्य होगा उसी के अनुपात में उनकी विनिमय दर निर्धारित होगी। किसी देश की प्रामाणिक मुद्रा में शुद्ध सोना अथवा चांदी का (जिस धातु की भी वह बनी हो) कितना भाग है यह उस देश के मुद्रा कानून से भली प्रकार ज्ञात हो सकता है और उसकी सहायता से यह मालूम हो सकता है कि यदि किन्हीं दो देशों में प्रामाणिक मुद्राएँ सोने की बनी हैं तो उन मुद्राओं के पारस्परिक स्वर्ण मूल्य का अनुपात क्या है या यदि दोनों देशों की प्रामाणिक मुद्राएँ चांदी की बनी हैं तो उनकी मुद्राओं के चांदी रूप में पारस्परिक मूल्य का अनुपात क्या है। इस सिद्धान्त के मानने वालों का मत है कि ऐसे दो देशों के बीच (जहां प्रामाणिक मुद्राएँ एक ही धातु की बनी होती हैं) विनिमय दर उनकी मुद्राओंके पारस्परिक धातु मूल्य के अनुपात के आधार पर निश्चित होता है। इस प्रकार निश्चित की हुई दर विनिमय की सम-मूल्य टकसाली दर कही जा सकती है। क्योंकि इस दर से दोनों देशों की प्रामाणिक मुद्राओं के टकसाली मूल्य में समता प्रकट होती है।

हमने अन्यत्र संकेत किया है कि विनिमय का बाजार भाव सदैव एक नहीं बना रहता बल्कि विदेशी हुण्डियों की माँग और पूर्ति के अनुसार वह बदला करता है अर्थात बाजार दर घटा बढ़ा करती है इस सिद्धान्त के मानने वालों का कहना है कि यह बाजार दर भले ही घटे अथवा बढ़े किन्तु यह सम्भव नहीं कि यह घटा बढ़ी किसी भी सीमा तक हो। दूसरे शब्दों में यह घटाव अथवा बढ़ाव एक निश्चित हद तक ही हो सकता है और अंत में जब विदेशी हुण्डियों की माँग पूर्ति बराबर होगी तो बाजारी दर सम-मूल्य टकसाली दर के बराबर हो जायगी। अब प्रश्न यह है कि यह दर कहाँ तक घट बढ़ सकती है? इस सिद्धान्त के अनुसार दो सीमाएँ होती हैं एक ऊपरी और दूसरी नीची। यह दोनों सीमाएँ सोना भेजने या मंगाने में जो व्यय होता है उसके अनुसार निश्चित होती हैं। सम-मूल्य टकसाली दर में व्यय जोड़ देने से वह सीमा ज्ञात हो जाती है जहाँ तक विनिमय की बाजार दर अधिक से अधिक बढ़ सकती है और व्यय घटा देने से वह सीमा मालूम हो जाती है जहां तक वह अधिक से अधिक घट सकती है। इन दोनो सीमाओं के अन्दर ही दर में घटा बढ़ी हो सकती है। इन सीमाओं को स्वर्ण निर्यात और स्वर्ण आयात दर भी कहा जा सकता है क्योंकि अगर सोना के आयात और निर्यात पर किसी प्रकार का प्रतिबंध न हुआ और यदि विनिमय दर इन सीमाओं को पार करके बढ़ गई है या घट गई

तो जिन देशों के बीच की दर में ऐसा परिवर्तन होगा उन देशों में सोने का आयात और निर्यात प्रारम्भ हो जाता है। स्वर्ण का यह आयात अथवा निर्यात तब तक चालू रहता है जब तक बाजार दर सममूल्य टकसाली दर के बराबर नहीं हो जाती। यह सिद्धान्त उदाहरण के द्वारा अधिक स्पष्टता से समझा जा सकता है। माना कि अमरीका और इंगलैंड के बीच सममूल्य टकसाली दर १पौंड=४.८६६ डालर है और अमेरिका ने निर्यात की अपेक्षा आयात अधिक कर लिया है ऐसी दशा में अमेरिका ऋणी देश होगा और वहाँ इङ्गलैंड के द्रव्य की माँग बढ़ जायगी। फलतः पौंड का मूल्य डालर की तुलना में कुछ बढ़ेगा अर्थात विनिमय दर बढ़ जायगी और अमरीका वालों को एक पौंड का विदेशी बिल द्वारा ऋण चुकाने में ४.८६६ डालर से कुछ अधिक व्यय करना पड़ेगा। अब यदि यह मान लिया जाय कि एक पौंड के बराबर सोना भेजने और इसका बीमा आदि कराने में .०२४ सेंट व्यय होता है तो यह समझ लेना कठिन नहीं है कि अपना एक पौंड का ऋण चुकाने के लिए कोई भी अमेरिका का व्यापारी १पौंड मूल्य का विदेशी बिल मोल लेने में ४.८६६+.०२४=४.८९० डालर से अधिक देना स्वीकार न करेगा, क्योंकि इतने से अधिक देने की अपेक्षा सोने के द्वारा भुगतान करने में कम व्यय होगा, भले ही सोना भेजने में थोड़ी असुविधा हो। इसी प्रकार अगर यह मान लिया जाय कि अमेरिका ने इंगलैंड को आयात की

अपेक्षा निर्यात अधिक किया है तो अमेरिका में डालर का मूल्य बढ़ जायगा या विनिमय दर घट जायगी परन्तु यह दर ४.८६६—.०२४=४.८४२ डालर के नीचे नहीं गिरेगी क्योंकि यदि बैंक से निर्यात करने वाले व्यापारियों को एक पौंड के विदेशी बिल का मूल्य ४.८४२ से कम मिलेगा तो भले ही कुछ झंझट उठानी पड़े वे इंगलैंड में सामान मँगाने वाले अपने ऋणी व्यापारियों को यही आदेश देंगे कि ऋण का भुगतान सोने के द्वारा किया जाय क्योंकि ऐसा करने से प्रति पौंड डालर रूप में उन्हें अधिक मिलेगा (कम से कम ४.८४२ डालर तो अवश्य ही मिलेंगे)

इस उदाहरण से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि अमरीका के लिये ऊपरी सीमा स्वर्ण निर्यात दर और नीची सीमा स्वर्ण आयात दर होगी। परन्तु इसका अर्थ यह कदापि नहीं है कि ऊपरी सीमा हर देश के लिये स्वर्ण निर्यात दर और नीची सीमा सदैव स्वर्ण आयात दर होगी क्योंकि इसी उदाहरण में इङ्गलैंड के लिये ऊपरी सीमा स्वर्ण आयात दर और नीची सीमा स्वर्ण निर्यात दर होगी।

यह ऐसा इसलिये है कि जैसा पहिले बताया गया है हर देश में विदेशी विनिमयदर बताने का ढंग एक ही नहीं होता। कहीं विदेशी द्रव्य का भाव अपने देश के द्रव्य में दिया जाता है और कहीं अपने देश के द्रव्य का भाव विदेशी द्रव्य में दिया जाता है। अतः संक्षेप में हम कह सकते हैं

कि यदि विनिमय दर अपने देश की मुद्रा में बताई जाय तो ऊपरी सीमा स्वर्ण निर्यात सीमा होगी और नीची सीमा स्वर्ण आयात सीमा होगी। इसके विपरीत यदि विनिमयदर विदेशी मुद्रा में बताई जावे तो ऊपरी सीमा स्वर्ण आयात सीमा और नीची सीमा स्वर्ण निर्यात सीमा होगी।

यहाँ पर हमें एक बात और भी समझ लेना चाहिये। ऊपर कहा गया है कि यदि विनिमय का भाव स्वर्ण आयात और निर्यात की सीमाओं के बाहर हो जाता है तो आयात और निर्यात करने वाले विभिन्न व्यापारी सोने के द्वारा अपना ऋण भुगतान करने लगते हैं, परन्तु वास्तव में ऐसा कभी नहीं होता है। वस्तुतः जब कभी विदेशी बिलों की माँग और पूर्ति में अन्तर पड़ जाने से दर सीमाओं के बाहर घट बढ़ जाती है तो सोने चाँदी के व्यापारी ही इस स्थिति से लाभ उठाने की दृष्टि से धातु का आयात या निर्यात करने लगते हैं जिसके फलस्वरूप विदेशी हुण्डियों या बिलों की संख्या में परिवर्तन हो जाता है और अंत में उनकी माँग और पूर्ति में समता आ जाती है जिससे विनिमय का भाव बाजार मूल्य से बदल कर फिर अपने सममूल्य टकसाली भाव पर आ जाता है।

अपने ऊपर वाले उदाहरण में यदि अमरीका और इङ्गलैंड के बीच विनिमय दर ४.८६० से अधिक है (जब अमरीका ने निर्यात की अपेक्षा आयात अधिक कर लिया हो)

और फलतः वहाँ विदेशी बिलों की पूर्ति की अपेक्षा माँग अधिक हो तो सोने चाँदी के व्यापारी धातु का निर्यात कर लाभ उठाने की चेष्टा करेंगे और इङ्गलैंड के व्यापारियों से मूल्य पाने के लिये विदेशी बिल चालू करेंगे। इस प्रकार विदेशी बिलों की पूर्ति बढ़ जायगी और अंत में जब माँग के बराबर हो जायगी तो विनिमयदर घट कर फिर ४.८६६ हो जायगी। इसी प्रकार यदि बिलों का माँग कम होने के कारण विनिमय दर घटकर ४.८४२ से भी कम हो जाती है (जब अमरीका ने आयात की अपेक्षा निर्यात अधिक कर दिया हो) तो सोने चाँदी के व्यापारी धातु आयात कर लाभ प्राप्त करना चाहेंगे। ऐसी दशा में ऋण भुगतान करने के लिये वे विदेशी बिलों की माँग प्रस्तुत कर उसे बढ़ा देंगे जिससे विनिमय दर बढ़ जायगी और अंत में माँग और पूर्ति बराबर हो जाने पर फिर ४.८६६ हो जायगी।

विदेशी विनिमय दर निश्चय करने का यह सिद्धान्त सत्य होते हुये भी पूर्ण रूप से ठीक नहीं कहा जा सकता है। इसका प्रथम कारण यह है कि जहाँ सोने चाँदी की खाने हैं उन देशों से सोने का निर्यात दूसरी अन्य वस्तुओं की भाँति किया जाता है अतः उस पर स्वर्ण निर्यात सीमा का कोई महत्वपूर्ण प्रभाव नहीं होता है। दूसरा कारण यह है कि कभी कभी (जैसे युद्ध काल में) सोने के निर्यात पर सरकार द्वारा प्रतिबन्ध भी लगा दिया जाता है। ऐसी दशा

में विनिमय दर चाहे जो कुछ क्यों न हो सोने का निर्यात नहीं हो सकता। इसके अतिरिक्त सोना भेजने में जो व्यय होता है वह सदैव एक नहीं रहता जिससे स्वर्ण निर्यात और आयात सीमाओं में भी परिवर्तन हुआ करता है।

३—विदेशी विनिमय दर निश्चय करने का तीसरा सिद्धान्त द्रव्य की क्रय शक्ति से सम्बन्ध रखता है इसीलिये इसे क्रय शक्ति समता सिद्धान्त कहते हैं। इस सिद्धान्त का प्रतिपादन सबसे पहिले स्वीडन के प्रसिद्ध अर्थशास्त्री गस्ताव कैसल ने किया था। प्रथम महायुद्ध के समय प्रायः समस्त योरोपीय देशों में अपरिवर्तनीय नोटों का प्रचलन हुआ और इस स्फीति के कारण वस्तुओं के मूल्यस्तर में अत्यधिक वृद्धि हो गई थी। यह वृद्धि सब देशों में एक समान न होकर कम या अधिक मात्रा में थी। प्रोफेसर कैसल के मतानुसार ऐसी परिस्थिति में दो देशों के बीच विनिमय दर वहाँ के द्रव्य की क्रय शक्ति पर निर्भर होती है। क्रयशक्ति का अर्थ द्रव्य के बदले मिलने वाली अन्य वस्तुओं की मात्रा से है दूसरे शब्दों में हम यह भी कह सकते हैं कि दो देशों के बीच विनिमय दर वहाँ की वस्तुओं के मूल्यस्तर पर निर्भर है। उदाहरण के लिए यदि मान लिया जाय कि भारतमें १रुपये के बदले साधारण रूप से हमें उतनी ही मात्रा में वस्तुएं प्राप्त होती हैं जितनी इंगलैंड में १शि० ६पे० के बदले में मिलती है तो ऐसी दशा में भारत और इंगलैंड के बीच विनिमय दर १रु०=१शि० ६पे० होगी। यदि कुछ समय

बाद द्रव्य स्फीति के कारण इंगलैंड में वस्तुओं का मूल्यस्तर बढ़ जाय जिससे उतनी ही वस्तुओं का दाम अब २शि० देना पड़े और यदि भारत में वस्तुओं का मूल्यस्तर वही बना रहे तो दोनों देशों के बीच विनिमय दर बदलकर नये मूल्यस्तर के आधार पर १रु०=२शि० हो जायगी। सक्षेप में यह कहा जा सकता है कि दो देशों के मूल्यस्तर में १:२ का अनुपात हो तो उनके द्रव्य की विनिमय दर भी इसी अनुपात से निर्धारित होगी। ऐसा क्यों होता है इसका उत्तर हम एक उदाहरण द्वारा दे सकते हैं। माना कि अ और ब देशों के बीच क्रय शक्ति के आधार पर अवलम्बित उनके द्रव्य की विनिमय दर १:२ है। अर्थात अ देश के द्रव्य की १इकाई का वस्तुओं में उतना ही मूल्य है जितना ब देश में द्रव्य की २ इकाइयों का। अथवा इससे यह भी अर्थ निकलता है कि अ की अपेक्षा ब देश में वस्तुओं का मूल्यस्तर दुगना अधिक है। अब यदि यह माना जाए कि द्रव्य प्रसार आदि कारणों से ब देश का मूल्यस्तर बढ़कर दुगुना हो गया है। ऐसी दशा में क्रय शक्ति के आधार पर दोनों देशों के बीच द्रव्य की विनिमय दर १:४ होनी चाहिए। यदि ऐसा न हुआ और विनिमय दर पूर्ववत् बनी रही तो बदेश में वस्तुओं के दाम अधिक होने के कारण (सामान के भेजने का व्यय दृष्टि में रखते हुए) अ देश के व्यापारी अपना माल ब देश को निर्यात करने लगेंगे। इस प्रकार बढ़ते हुए आयात के कारण ब देश में वस्तुओं की मात्रा बढ़ जायगी जिससे उनके दाम

गिरने लगेंगे। साथ ही अ देश के निर्यात करने वाले व्यापारियों का मूल्य चुकता करने के लिए व देश से स्वर्ण का निर्यात होना भी सम्भव है। इन कारणों से व देश का मूल्यस्तर धीरे धीरे घटकर पूर्ववत् फिर हो जायगा।

पुनश्च यदि हम मान लें कि स्वर्ण के निर्यात पर प्रतिबन्ध होने से वह बाहर नहीं जा सकेगा। ऐसी दशा में यदि ब देश में पहिले की अपेक्षा मूल्यस्तर दुगुना अधिक है और यदि विनिमय दर न बढ़ी तो वहाँ के व्यापारियों को हानि होने लगेगी। उनका उत्पादन व्यय बढ़ेगा और वस्तुओं के दाम अधिक होने के कारण उनको विदेश भेजना सम्भव न हो सकेगा। साथ ही निर्यात का बिलकुल बन्द कर देना भी व्योवहारिकताकी दृष्टिसे सम्भव अथवा उचित न होगा ऐसी परिस्थिति में विनिमय दर स्वाभाविक रूप से बढ़ेगी इन्हीं कारणों से दो देशों के बीच विनिमय दर उनके द्रव्य की क्रय शक्ति के समतास्तर से बहुत अधिक समय तक दूर नहीं रह सकती यही इस सिद्धान्त का मुख्य आशय है। इस सिद्धान्त का मुख्य लक्षण विनिमय दर का अस्थायीपन है और यह ठीक भी है क्योंकि वस्तुओं का मूल्यस्तर सदैव एक नहीं रहता है; किन्तु जैसा अन्यत्र बताया गया है देश में चालू द्रव्य की मात्रा के अनुसार बदला करता है। इसीलिए द्रव्य की क्रय शक्ति भी बदला करती है और क्रय शक्ति बदलने के कारण विनिमय दर का बदलना स्वाभाविक है। इस से दूसरा

निष्कर्ष यह निकलता है कि यह सिद्धान्त वास्तव में द्रव्य के परिमाण सिद्धान्त पर अवलम्बित है क्योंकि वस्तुओं का मूल्यस्तर जैसा पहिले बताया गया है देश में प्रचलित द्रव्य के परिमाण पर निर्भर है।

यद्यपि यह सिद्धान्त बहुत अंश में ठीक है लेकिन फिर भी लोगों को कुछ आपत्तियां हैं। जैसे बहुधा कहा जाता है कि चूँकि यह सिद्धान्त द्रव्य के परिमाण सिद्धान्त पर अवलम्बित है अतः जो दोष उसमें हैं वे स्वाभाविक रूप से इसमें भी हैं। दूसरी आपत्ति यह है कि विभिन्न देशों में मूल्यस्तर सम्बन्धी निर्देशक अंक विभिन्न प्रकार से तैयार किए जाते हैं अतएव उनमें तुलनात्मक सामञ्जस्य स्थापित करना सरल नहीं है। अतः ऐसे निर्देशक अंकों से किसी ठीक निष्कर्ष पर पहुँचना कठिन है।

अंत में हम यह कह सकते हैं कि आपत्तियों के ठीक होते हुये भी यह सत्य है कि आजकल के अंतर्राष्ट्रीय युग में एक देश के मूल्यस्तर का दूसरे देश पर प्रभाव अवश्य पड़ता है और यदि अस्वाभाविक उपायों से विनिमय दर का नियंत्रण न किया जाय और व्यापार को पूर्ण स्वतंत्रता हो तो निश्चय ही इस सिद्धान्त का आशय कम या अधिक अंश में ठीक सिद्ध होगा।

विनिमय दर की घटा बढ़ी

ऊपर यह कहा गया है कि विनिमय दर घटा बढ़ा करती है। इसके कई कारण हैं जिनमें प्रमुख ये हैं:—

१) विदेशी हुण्डियों की माँग और पूर्ति

किसी भी वस्तु के मूल्य पर उसकी माँग और पूर्ति का हुत गहरा प्रभाव पड़ता है। मांग घटने से मूल्य कम होता है और उसके बढ़ने से मूल्य में वृद्धि होती है। इसके विपरीत पूर्ति कमी होने पर मूल्य बढ़ता है और उसके बढ़ने र मूल्य कम होता है। यह बात विदेशी हुण्डियों के षय में भी सत्य है। विदेशी हुण्डियों की माँग और र्ति साधारण वस्तुओं और मनुष्यों की सेवाओं के आयात र निर्यात पर निर्भर है। निर्यात अधिक होने से विदेशी ण्डयों की पूर्ति बढ़ती है और आयात अधिक होने से माँग ती है। इस साधारण आयात और निर्यात के अतिरिक्त और अन्य पूँजीपति लोग विदेशों से पूँजी रूप में देन किया करते हैं तथा साख आदि के रूप में द्रव्य विनिमय भी करते हैं। इस सब प्रकार के लेन देन विदेशी द्रव्य अर्थात विदेशी हुण्डियों या बिलों की माँग र पूर्ति पर बहुत अधिक प्रभाव पड़ता है। यदि लोग विदेश जाते हैं जिससे उन्हें विदेशी साख अर्थात विदेशी की अधिक आवश्यकता होती है या लोग विदेशी पूँजी चाहते हैं तो इससे विदेशी बिलों की माँग बढ़ती है। दशा में विदेशी द्रव्य का मूल्य बढ़ेगा। इसके विपरीत अन्य देशवासी हमारे देश में पर्यटन आदि के लिये आते हैं या हमारे देश की पूजी चाहते हैं तो हमारे

देश के द्रव्य की माँग बढ़ेगी और फलतः उसका मूल्य भी बढ़ेगा। हम देखते हैं कि ये सब बातें सदैव एक समान नहीं रहती हैं। इनमें परिवर्तन होने से विदेशी बिलों की माँग और पूर्ति में घटाव बढ़ाव हुआ करता है। यही कारण है कि विनिमय दर में बहुधा घटा बढ़ी हुआ करती है।

२—मुद्रा (चलन) और मूल्य स्थिति

देश की मुद्रा अथवा करेंसी का भी विनिमय दर पर प्रभाव पड़ता है। यदि किसी देश में नोटों का अत्यधिक प्रसार हुआ है जिसके फलस्वरूप वहाँ के द्रव्य का मूल्य विदेशी द्रव्य की तुलना में गिर गया है तो ऐसी दशा में विनिमय दर का प्रतिकूल होना स्वाभाविक है। मुद्रा में हीनता होने पर भी विनिमय दर प्रतिकूल हो जाती है क्योंकि हीन मुद्रा का मूल्य विदेशी मुद्रा की तुलना में कम होता है।

३—राजनैतिक समस्याएँ

राजनैतिक बातों का देश के आयात और निर्यात पर प्रभाव पड़ता है। फलतः उसका प्रभाव विनिमय दर पर पड़ना स्वाभाविक है। युद्ध के समय तो विनिमय दर पर कठिन नियंत्रण भी रक्खा जाता है। राजनैतिक अशान्ति के समय सट्टेबाज लोग लाभ उठाने की दृष्टि से कार्यवाही प्रारम्भ कर देते हैं जिससे विनिमय दर की घटा बढ़ी और भी बढ़ जाती है। साधारणतः विनिमय दर इन्हीं सिद्धान्तों के अनुसार निश्चित होनी चाहिये किन्तु जैसा हम जानते हैं वर्तमान समय में

अधिकांश आर्थिक परिस्थितियों पर सरकार की ओर से नियंत्रण रक्खा जाता है अतः कुछ देशों के बीच विनिमय दर इन सिद्धान्तों पर अवलम्बित न होकर राज्य की ओर से संगठित अन्य कृत्रिम उपायों द्वारा संचालित की जाती है। इसका ज्वलंत उदाहरण हमें अपने ही देश में मिलता है। यहाँ विनिमय दर (१ रु० = १ शि० ६ पेंस) विदेशी बिलों अथवा अन्य आर्थिक सिद्धान्तों पर निर्भर न होकर राज्य द्वारा निश्चित की गई सीमाओं के अन्दर ही घटा बढ़ा करती है। इसी प्रकार युद्धकाल में इङ्गलैंड और अमरीका के बीच भी स्टर्लिङ्ग और डालर की विनिमय दर १ पौं० = ४ ' ७६ १/२ डालर स्थिर कर दी गई थी। इस प्रकार विनिमय दर पर रोक लगा देना अंगरेज़ी भाषा में 'एक्सचेन्ज पेगिंग' कहलाता है। विनिमय दर को निश्चित सीमाओं के अन्दर ही बनाये रखने के लिये विदेशी द्रव्य की माँग और पूर्ति में कृत्रिम उपायों द्वारा समानता स्थापित करने का प्रयत्न किया जाता है। भारत के सम्बन्ध में यह कार्य किस प्रकार होता है इसका वर्णन आगे चलकर भारतीय द्रव्य के इतिहास के सम्बन्ध में किया जायगा।

विनिमय नियंत्रण

प्रत्येक स्वतंत्र देश अपनी आर्थिक स्थिति अधिक से अधिक सुदृढ़ करने के लिये अनेक उपायों का प्रयोग करता है। देश के व्यापार और उद्योग धन्धों को हर प्रकार से प्रोत्साहन

देकर उत्पादन बढ़ाने का प्रयत्न होता है। साथ ही अपना माल निर्यात कर विदेश में अधिक से अधिक मात्रा में बेचने की चेष्टा की जाती है। देश का आयात व्यापार कम करने की भी चेष्टा होती है।

इसके अतिरिक्त वे सब उपाय प्रयोग में लाये जाते हैं जिनके द्वारा देश के अन्दर विदेशी द्रव्य की माँग कम हो और जिस से सोना देश के बाहर न जा सके। देश का आयात निर्यात व्यापार इस प्रकार से संचालित किया जाता है कि उसका अन्तर सदैव अपने अनुकूल रहे। स्मरण रहे, इन सब बातों का विनिमय दर पर बहुत प्रभाव पड़ता है, जैसा कि हम उसकी प्रतिकूलता और अनुकूलता के सम्बन्ध में पहले ही संकेत कर चुके हैं। अतएव उसे यहाँ पर दोहराने की आवश्यकता नहीं और इतना कहना ही पर्याप्त होगा कि उपरोक्त उद्देश्य की पूर्ति के लिए ही विनिमय दर पर नियन्त्रण रखने की आवश्यकता पड़ती है। कभी कभी नियंत्रण का सहारा इसलिये लिया जाता है कि कोई देश किसी अन्य प्रमुख देश से जिसके साथ उसका व्यापार आदि लेन देन बहुत अधिक मात्रा में होता है अपना व्यापारिक या आर्थिक सम्बन्ध अधिक घनिष्ट करना चाहता है। यहाँ पर भी हमें अपने ही देश का उदाहरण मिलता है। भारत और इङ्गलैंड के बीच विनिमय दर स्थिर करके यह देश मानों अनिश्चित काल के लिये इङ्गलैंड के साथ बाँध दिया गया हो? इस नियंत्रण का जहाँ

तक भारत से सम्बन्ध है हम अन्यत्र विचार करेंगे किन्तु यहाँ हमें यह मानना ही पड़ेगा कि वर्त्तमान प्रतियोगिता के युग में ऊपर बताये हुये उद्देश्य से यदि विदेशी विनिमय का नियंत्रण किया जाय तो वांछनीय ही है। अतः अब हम यह भी जानने का प्रयास करेंगे कि यह कार्य किस प्रकार सम्पादित होता है। प्रमुख उपाय बाह्य व्यापार पर प्रतिबन्ध लगाना है। क्योंकि जैसा अन्यत्र कहा गया है आयात और निर्यात के अन्तर का विनिमय दर पर बहुत प्रभाव पड़ता है। आयात व्यापार भारी चुंगी लगाकर कम किया जा सकता है और निर्यात व्यापार सरकारी आर्थिक सहायता देकर प्रोत्साहित किया जा सकता है। इससे भी यदि काम नहीं बनता तो मुख्य-कर युद्ध काल में इस बाह्य व्यापार पर अन्य रूप से भी नियंत्रण रक्खा जाता है। वह उपाय यह है कि स्थिति के अनुसार सरकार द्वारा यह पहले तय कर दिया जाता है कि अमुक देश से एक निश्चित समय में कितने मूल्य का सामान मँगाया जा सकेगा। कभी कभी बिना सरकार की पूर्वलिखित आज्ञा के बाहर से सामान मँगाने पर भी रोक लगा दी जाती है। इस प्रकार स्थिति देखते हुये सरकार किसी भी देश के साथ अपना बाह्य व्यापार नियंत्रण के अन्दर कर सकती है। दूसरा उपाय देश के अन्दर सूद की दर बढ़ाना या घटाना है। सूद की दर बढ़ जाने से विदेशी पूँजी आकृष्ट होती है जिससे अपने देश के द्रव्य की माँग बढ़ती है और इस प्रकार विनिमय दर अनुकूल

हो जाती है। सूद की दर घटाने से प्रभाव उल्टा पड़ता है । तीसरा उपाय यह है कि सरकार विदेशियों का जो हिसाब अपने यहाँ हो उसके बाहर जाने पर रोक लगा दे। यह प्रतिबन्ध मुख्यतः युद्धकाल में लगा दिया जाता है। ऐसा हिसाब अवरुद्ध हो जाता है और फिर उस द्रव्य का उपयोग देश के अन्दर ही सरकार की इच्छानुसार हो सकता है। चौथा उपाय यह है कि सरकार साधारणतः लोगों को स्वतंत्रतापूर्वक विदेशी विनिमय का उपयोग न करने दे। उसकी दर निश्चित करके विदेशी विनिमय की सुविधा किसे और कितनी मिले इसका निर्णय सरकार स्वयं करे अथवा उसकी बताई हुई नीति के अनुसार यह कार्य केन्द्रीय बैंक द्वारा किया जाय। पाचवाँ उपाय यह हो सकता है कि इस विदेशी विनिमय कार्य के लिये एक कोष रक्खा जाय जिसकी सहायता से विनिमय दर में होने वाली क्षणिक घटा बढ़ी रोकी जा सके। इस कोष को हम विनिमय क्षतिपूरक या समीकरण कोष कह सकते हैं क्योंकि इससे विदेशी विनिमय के द्वारा होने वाली सम्भावित हानि पूरी की जा सकती है या यह कहिये कि इसके द्वारा विदेशों की माँग और पूर्ति बराबर रक्खी जा सकती है।

भारतीय द्रव्य व्यवस्था

परिच्छेद सत्रह



भारतीय द्रव्य व्यवस्था

अभी तक हमने द्रव्य सम्बन्धी केवल मूल सिद्धान्तों का विवेचन किया है। इसके उपरान्त स्वतः यह इच्छा होती है कि हम अपने देश की द्रव्य व्यवस्था का भी ज्ञान प्राप्त करें। यद्यपि यह बहुत लम्बी कहानी है किन्तु फिर भी प्रस्तुत प्रसंग में इस जिज्ञासा को पूर्ण करना न केवल वांछनीय अथवा उचित ही किन्तु आवश्यक भी प्रतीत होता है। अतः इस परिच्छेद में हम यह जानने का प्रयास करेंगे कि भारत में समय-समय पर द्रव्य की व्यवस्था का किस प्रकार संचालन हुआ और अब उसका वर्तमान स्वरूप क्या है।

भारतीय द्रव्य व्यवस्था पर यदि विस्तारपूर्वक ऐतिहासिक दृष्टि कोण से लिखा जाय तो एक ग्रन्थ तैयार हो सकता है जिस के लिए अधिक समय और स्थान चाहिये। यहाँ पर सार

उद्देश्य आर्थिक दृष्टि से अपने द्रव्य का वर्तमान स्वरूप समझना ही है। इसके लिए कुछ पिछली घटनाओं का ज्ञान होना भी आवश्यक है क्योंकि प्रायः सभी क्षेत्रों मे अतीत का प्रभाव वर्तमान स्थिति पर अवश्य पड़ता है। इसलिये बहुत विस्तार में न जाकर केवल संक्षेप में हम यह देखेंगे कि पिछली शताब्दी के प्रारम्भ से अब तक हमारे देश की द्रव्य व्यवस्था में क्या क्या परिवर्तन हुए हैं और उन परिवर्तनों का देश पर क्या प्रभाव पड़ा है।

इतनी लम्बी अवधि में द्रव्य की स्थिति में कब और क्या परिवर्तन हुआ इसका सुविधापूर्वक अध्ययन करने के लिये हम उसे निम्नलिखित अंशों में विभाजित कर सकते हैं:

(१)	पूर्व काल		
(२)	१८०१	...	१८३५
(३)	१८३५	....	१८७४
(४)	१८७४	....	१८९३
(५)	१८९३	....	१९००
(६)	१९००	....	१९१४
(७)	१९१४	....	१९१९
(८)	१९१९	....	१९२६
(९)	१९२६	....	१९३९
(१०)	द्वितीय विश्वयुद्ध		
(११)	वर्तमान स्थिति		

१

पूर्व काल

भारत के लिये मुद्राओं का प्रयोग कोई नयी बात नहीं है। यहाँ सोने और चाँदी की मुद्राओं का प्रयोग बहुत पहिले भी हो चुका है। 'नाणक' और 'नाण' नामक चालू सिक्कों का प्रचलन इतिहास कालसे पहिले की घटना है। ऋगवेद के समय में लोगों का मत है कि 'निष्क' नामक शब्द का प्रयोग होता था जिसका संकेत सम्भवतः किसी सोने की मुद्रा की ओर था। 'सुवर्ण' शब्द का भी प्रयोग इस सम्बन्ध में मिलता है। कुछ इतिहासकारों का विचार है कि प्राचीन काल में चाँदी की "रौप्य" नामक मुद्रा का प्रयोग होता था और उसी के आधार पर वर्तमान रुपये का जन्म हुआ है। कुछ अन्य लोगों का कहना है कि प्राचीन काल में सोने की 'निष्क' और 'सुवर्ण' नामक मुद्राओं के अतिरिक्त चाँदी की बनी 'पुराण' और 'धरण' तथा ताँबे की 'कार्षापण' मुद्राओं का भी प्रयोग हुआ है। मनु स्मृति में भी 'पण' शब्द का प्रयोग मिलता है। कौटिल्य के अर्थशास्त्र से ज्ञात होता है कि उस समय मुद्रानिर्माण का कार्य बहुत ही अच्छे ढंग से होता था और 'पण' 'माषक' तथा 'काकणी' आदि

मुद्राओं का प्रचलन था। इतिहास काल में भी हम देखते हैं कि भारत में मुद्रा का प्रयोग बहुत पहिले से हो रहा है। गुप्तकाल तथा मध्य हिन्दू काल में सोने की मुद्राओं का उल्लेख मिलता है। दिल्ली के सुलतान लोगों के समय में सोने और चाँदी दोनों की मुद्राओं का वर्णन है। कहने का आशय यह है कि इस देश में मुद्रा का प्रचलन बहुत पहिले से हो रहा है। यह सम्भव है कि उस समय मुद्रा निर्माण का कार्य इतना सुव्यवस्थित न रहा हो जितना आज दिखाई पड़ता है। साथ ही यह भी माना जा सकता है कि उस समय आज की भाँति सम्पूर्ण देश में किसी एक सर्व लौकिक मुद्रा का प्रचलन न रहा हो। परन्तु उस समय की राजनैतिक स्थिति देखते हुये यह स्वाभाविक था। इतने विस्तृत देश के विभिन्न भागों में अलग अलग शासकों का आधिपत्य होने के कारण अनेक प्रकार की मुद्राओं का प्रचलन होना स्वाभाविक बात थी। इसीलिये मुगल वंश का अन्त होने के समय देश में कई धातुओं की विभिन्न मूल्य, आकार और तोल की मुद्राओं का प्रयोग हो रहा था।

समानान्तर द्रव्यमान

संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि ईस्ट इण्डिया कम्पनी का आधिपत्य स्थापित होने के पूर्व एक प्रकार का समानान्तर द्रव्यमान प्रचलित था, क्योंकि सोना और चाँदी दोनों की मुद्राओं का प्रयोग होता था लेकिन उनके बीच कोई निश्चित अनुपात नहीं था। दोनों का मूल्य बाजार भावके अनुसार निरंतर

बदला करता था। चलते चलते घिस जाने के कारण मुद्राओं का वास्तविक मूल्य कम हो जाता था अतः ठीक ठीक मूल्य निश्चय करने के लिये प्रायः सर्राफ लोगों की सहायता ली जाती थी। इस कार्य में अड़चन और हानि दोनो की सम्भावना रहती थी। मुख्यकर कम्पनी के बढ़ते हुये व्यापार और लेन देन के लिये इस प्रकार की व्यवस्था एक बहुत बड़ी बाधा तुल्य प्रतीत होती थी। अतः कम्पनी के संचालक सदैव ऐसा अवसर प्राप्त करने की खोज में रहते थे जिससे द्रव्य व्यवस्था में उनकी सुविधानुसार उचित परिवर्तन हो जाय। इस उद्देश्य की पूर्ति में अँग्रेजों को कहां तक सफलता मिली यह हम अगले अंश में पढ़ेगे।

२

१८०१—१८३५

मुगलवंश का अन्त होने के समय तक ईस्ट इण्डिया कम्पनी का व्यापारिक और राजनैतिक प्रभुत्व बहुत बढ़ गया था। धीरे धीरे कम्पनी ने मुद्रा बनवाने की भी अनुमति प्राप्त कर ली और प्रारम्भ में कुछ अंग्रेजी ढंग की मुद्राएँ भी चलाईं परन्तु उनका अधिक प्रचार न हो सका। इसलिए अंतमें विवश होकर उसे प्रचलित मुद्राओं का ही सहारा लेना पड़ा। कम्पनी का व्यापारिक क्षेत्र बहुत अधिक बढ़ गया था। इसलिए विभिन्न प्रदेशों में अलग अलग मुद्राओं का प्रयोग होने के कारण लेन देन में बड़ी असुविधा होती थी। न केवल व्यापार में बल्कि मालगुजारी इकट्ठा करने में भी बड़ी कठिनाई होती थी। कम्पनी की इच्छा थी कि कम से कम उससे सम्बन्धित स्थानों में एक ही प्रकार की मुद्रा का प्रचलन हो जाय।

ईस्ट इण्डिया कम्पनी और द्रव्य व्यवस्था

प्रारम्भ में कम्पनी ने सोना और चाँदी दोनों धातुओं की मुद्राएँ चलाईं जिन पर कम्पनी की छाप थी। उनका मूल्य और तौल भी निश्चित थी। सोने और चाँदी का पारस्परिक

अनुपात भी निर्धारित कर दिया गया था। लेकिन इन धातुओं के बाजार मूल्य में निरंतर परिवर्तन होते रहने के कारण इस प्रकार निश्चित किया गया अनुपात बनाये रखना अत्यंत कठिन था। ग्रेशम नियम के अनुसार बहुधा चाँदी का मूल्य कम होने के कारण केवल उसी का प्रयोग होता और सोना लुप्त हो जाता था। इसी बीच इंगलैंड में लार्ड लिवरपूल की मुद्रा सम्बन्धी एक पुस्तक प्रकाशित हुई जिसमें एक धातु मान को विशेष महत्व दिया गया। कम्पनी अपनी अड़चनों को दूर करने का कोई उपाय खोज ही रही थी। अतएव इस पुस्तक का उसे सहारा मिल गया। सन १८०६ में कम्पनी के संचालकों ने मद्रास और बंगाल की सरकार को इस आशय का पत्र लिखा कि यहाँ की प्रधान मुद्रा चाँदी की रखी जाय। यद्यपि सोने की मुद्रा का प्रचलन बन्द न किया जाय तथापि सोने और चांदी की मुद्राओं के बीच किसी अनुपात का निश्चित करना भी कम्पनी के मतानुसार उचित नहीं था। इस समय तक कम्पनी के अधिकार और भी बढ़ गए थे और सम्भवतः अपने उद्देश्य की ओर बढ़ने के ही लिये अपने अधिकृत क्षेत्रों में उसने इस प्रकार की कार्यवाही प्रारम्भ भी कर दी थी। सन १८१८ में मद्रास में जहाँ अभी तक स्वर्ण मुद्रा 'पगोद' का प्रयोग हो रहा था चाँदी के रुपये का प्रयोग प्रारम्भ किया गया। इसकी तोल १८० ग्रेन थी जिसमें शुद्ध चाँदी का अनुपात ११/१२ अंश था। यद्यपि स्वर्ण मुद्रा का

बनना बन्द कर दिया गया लेकिन परिस्थिति देखते हुये उसका प्रचलन पूर्ण रूप से बन्द कर देना उचित नहीं समझा गया। लोगों को उसका प्रयोग करने की स्वतंत्रता थी। सोने की मुद्राओं का मूल्य निश्चित नहीं था बल्कि बाजार भाव के अनुसार बदलता रहता था। सरकारी भुगतान में उनका प्रयोग सब स्थानों पर हो सकता था। सन १८२३ में इसी रुपये का प्रयोग बम्बई में भी प्रारम्भ किया गया।

सन् १८३५ का द्रव्य विधान

कम्पनी का ध्येय, कि सर्वत्र एक ही प्रकार की मुद्रा का प्रचलन हो जाय धीरे धीरे सफल होने लगा। सन् १८३२ तक अङ्गरेजी राजसत्ता भी स्थापित हो चुकी थी अतः सन् १८३५ में इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये बहुत ही महत्वपूर्ण मुद्रा सम्बन्धी विधान बनाकर चालू किया गया। इस विधान की मुद्रा सम्बन्धी प्रमुख बातें ये थीं:

(१) बम्बई और मद्रास में चलने वाला चाँदी का रुपया सम्पूर्ण अङ्गरेज-अधिकृत भारत के लिये सवमान्य असीमित मुद्रा घोषित की गई। इसकी तोल १८० ग्रेन थी जिसमें १६५ग्रेन चाँदी थी। उसका निर्माण निर्बाध रक्खा गया।

(२) रुपये का वास्तविक मूल्य और मुद्रा मूल्य बराबर था।

(३) रुपये की ही तोल के अनुपात से उसके आधे

और चौथाई मूल्य की अलग अलग अठन्नी और चवन्नी भी बनाने का प्रबन्ध किया गया।

(४) सोने की मुद्राओं का प्रचलन यद्यपि एक प्रकार से बन्द कर दिया गया क्योंकि उन्हें स्वीकार करने केलिये अब कोई व्यक्ति वाध्य नहीं था, फिर भी सोने की कुछ मुद्राओं का बनना बन्द नहीं हुआ और रुपये के ही समान मोहरें अब भी मिल सकती थीं जिनका मूल्य १५ रुपये के बराबर था। साथ ही सोने की कुछ मुद्राएँ और भी चलती रहीं जिनका मूल्य ३० रुपये, १० रुपये और ५ रुपये के बराबर था।

इस प्रकार हम देखते हैं कि यद्यपि पूर्व प्रचलित द्विधातुमान को हटाकार एक-धातु-मान (चाँदी) का प्रयोग किया गया लेकिन फिर भी सोने का प्रचलन बिल्कुल बन्द नहीं हुआ। सर्व साधारण को सोने की मुद्राओं का प्रयोग करने की स्वतंत्रता थी। साथ ही सोने और चाँदी की मुद्राओं का पारस्परिक मूल्य १ : १५ रक्खा गया। वास्तव में बात यह थी कि देशवासी मुख्यकर मद्रास में स्वर्ण मुद्रा के प्रयोग के अभ्यस्त थे अतः उनके विरोध की आशंका से यह उचित नहीं समझा गया कि स्वर्ण मुद्रा का प्रयोग एक दम बन्द कर दिया जाय। साथ ही यह भी हो सकता है कि उस समय अधिकारियों का उद्देश्य आगे चलकर स्वर्ण मान स्थापित करने का रहा हो। बात जो कुछ भी रही हो कम से कम यह स्पष्ट है कि द्विधातुमान को बनाये रखने का यह अन्तिम प्रयास था।

३

१८३५–१८७४

सन् १८३५ के विधान के अनुसार यद्यपि सोने की मुद्राएँ अनिवार्य रूप से सबके लिये ग्राह्य नहीं थीं लेकिन फिर भी सर्वसाधारण में उनका प्रचार बना रहा क्योंकि लोग स्वर्ण मुद्राओं के प्रयोग से अधिक परिचित थे और वह सोने की ही मुद्राएँ अधिक चाहते थे। सन् १८४१ में एक विज्ञप्ति प्रकाशित की गई जिसके अनुसार यह बताया गया कि सभी सरकारी खजानों में बिना किसी अड़चन के भुगतान स्वर्ण मुद्राओं में लिया जा सकेगा। यह स्वर्ण मुद्राएँ अपने मुद्रा मूल्य के आधार पर स्वीकार की जाती थी परन्तु अधिक प्रयोग के कारण यदि कोई मुद्राएँ बहुत घिसी होती थीं तो उन्हें तौलकर उनके वास्तविक मूल्य के आधार पर स्वीकार किया जाता था। उनका चाँदी के साथ १:१५ का अनुपात था।

सोने का मूल्य गिरना और स्थिति परिवर्तन

दैवयोग से यह स्थिति अधिक समय तक शान्तिपूर्वक नहीं चल सकी। इस विज्ञप्ति के लगभग १० वर्ष बाद १७४८--१७५१ में आस्ट्रेलिया और कैलीफोर्नियाँ में सोने की खानों का पता

चला जिससे सोने का उत्पादन बढ़ने लगा। इसका परिणाम यह हुआ कि शीघ्र ही सोने की मात्रा में वृद्धि हो जाने के कारण उसका मूल्य गिरना प्रारम्भ हो गया। चाँदी की तुलना में उस का मूल्य बहुत ही कम हो गया। बाजार में मोहर का दाम १५ रु० से अब बहुत कम था लेकिन विधान के अनुसार उसका मूल्य पूर्ववत् ही बना रहा। ऐसी स्थिति में ग्रेशम नियम का लागू होना स्वाभाविक बात थी। मोहरें सर्व साधारण के लिये अनिवार्य रूप से ग्राह्य नहीं थीं अतः लोग सरकार का समस्त भुगतान स्वर्ण मुद्रा के द्वारा ही करने लगे क्योंकि ऋण चुकाने का यह सस्ता उपाय था। सरकार को इसमें घाटा उठाना पड़ा और साथ ही खजाने में सोने की मोहरों का ढेर लगने लगा जब कि इसका मूल्य दिन पर दिन गिर रहा था। सरकार के सामने एक विचित्र परिस्थिति थी जिसका सामना करने में अपने को असमर्थ पाकर उसने १ जनवरी सन् १८५३ से सन् १८४१ की अपनी पुरानी विज्ञप्ति रद्द कर सर्व साधारण से भुगतान में स्वर्ण मुद्राओं का लेना बन्द कर दिया। लेकिन टकसाल में मुद्रा निर्माण के लिये सोना फिर भी पहले की भाँति लिया जाता रहा।

द्रव्य की कमी

इसका परिणाम यह हुआ कि सोने की लाखों मुद्राएं प्रचलन से बाहर हो गईं और इस प्रकार सोने का प्रयोग लगभग बिल्कुल बन्द हो जाने से व्यापारिक क्षेत्र में द्रव्य की

कमी के कारण बड़ी अड़चन पैदा हो गई। उस समय देश का वाह्य व्यापार उन्नति की ओर था इसलिए अधिक द्रव्य की आवश्यकता थी। साथ ही चाँदी का उत्पादन पर्याप्त न होने के कारण द्रव्य की और भी कमी प्रतीत होने लगी। इसके अतिरिक्त उस समय साख द्रव्य भी सरलता पूर्वक उपलब्ध नहीं था क्योंकि आज कल की तुलना में उस समय बैंक संगठन सुव्यवस्थित नहीं था। ऐसी परिस्थिति में लोगों ने सोने का मुद्रा रूप में नहीं बल्कि साधारण टुकड़ों के रूप में प्रयोग करना प्रारम्भ कर दिया। इन टुकड़ों पर बम्बई के कुछ बैंकों की छाप लगी रहती थी। इससे विदित होता है कि उस समय वास्तव में द्रव्य की कितनी कमी थी। ऐसी कठिन स्थिति में स्वर्ण मुद्राओं का प्रचार करने के लिये सर्व साधारण की ओर से प्रयत्न किया गया। व्यापारी वर्ग ने विशेष रूप से सरकार का ध्यान इस ओर आकृष्ट किया। अन्त में विवश होकर सन् १८६४ में सरकार ने सावरेन और अर्ध सावरेन का प्रयोग करना स्वीकार कर लिया। इनका मूल्य क्रमशः १० रु० और ५ रु० के बराबर रक्खा गया लेकिन इन मुद्राओं के सम्बन्ध में कुछ प्रतिबन्ध लगा दिये गये जैसे :

(१) यह मुद्राएँ इंगलैड या आस्ट्रेलिया की केवल उन्हीं टकसालों की बनी हुई होनी चाहिए जिन्हें निर्माण करने की अनुमति दे दी गई हो।

(२) मुद्राएँ कानूनी रूप से ग्राह्य नहीं होंगी।

(३) सरकार द्वारा इन मुद्राओं का लेन देन सरकार की सुविधा पर निर्भर होगा ।

मैन्सफील्ड समिति

परिस्थिति वास्तव में असाधारण थी इसलिए उसकी जाँच के लिये सन् १८६६ में मैन्सफील्ड समिति की नियुक्ति की गई। बहुत कुछ जाँच के बाद समिति ने अपनी सम्मत्ति इस प्रकार दी: —

(१) १५ रु०, १० रु०, और ५ रु० के बराबर मूल्य की स्वर्ण मुद्राएँ प्रचलित की जानी चाहिए (क्योंकि लोगों में स्वर्ण मुद्रा की अधिक चाह थी)

(२) प्रचलन में सोना और चाँदी की मुद्राएँ और नोटों का प्रयोग होना चाहिये ।

(३) यथा सम्भव नोटों का प्रयोग सार्वभौमिक या सर्वव्यापक कर देना चाहिये ।

इस का अर्थ यह निकाला जा सकता है समिति सर्व साधारण की इच्छा के अनुसार स्वर्ण मुद्राओं के प्रयोग के पक्ष में थी । परन्तु उसकी राय का कोई महत्वपूर्ण प्रभाव नहीं पड़ा सन् १८६८ में सरकार ने इतना अवश्य किया कि सावरेन और अर्द्ध सावरेन का मूल्य क्रमशः १० रु० और ५ रु० से बढ़ाकर १० रु० ४ आ० और ५ रु० २ आ० कर दिया।

स्थिति में कोई सन्तोष जनक परिवर्तन न देखकर अर्थ-मंत्री रिचर्ड टेम्पिल ने १८७२ में सरकार के समक्ष यह प्रस्ताव

रखा कि स्वर्ण मुद्रा सबके लिये अनिवार्य रूप से ग्राह्य कर दी जाय और यह भी राय दी कि एक जाँच समिति की नियुक्ति की जाय। अर्थ मंत्री ने अपने प्रस्ताव में एक प्रकार से यह प्रदर्शित कर दिया कि वास्तव में स्वर्ण मुद्रा का प्रयोग ही उचित सुधार था परन्तु भारत सरकार उसे मानने या कार्यान्वित करने को तैयार नहीं थी। सन् १८७४ में इसी प्रकार की नीति का परिचय देते हुये सरकार ने यह स्पष्ट कर दिया कि स्वर्ण के पक्ष में वह कोई भी प्रस्ताव मानने को तैयार नहीं है।



४

१८७४–१८९३

चांदी के मूल्य में गिरावट और उसका प्रभाव

सन् १८७४ तक किसी प्रकार कार्य चलता रहा परन्तु उसके बाद स्थिति बहुत बिगड़ गई। इसके दो प्रधान कारण थे : प्रथम सोना और चाँदी के भाव में भारी परिवर्तन और द्वितीय यूरोप में कई देशों का अपने यहाँ द्रव्य मान में परिवर्तन करना। यह दोनों घटनाएँ ऐसी थीं जिनकी पहले से कोई कल्पना नहीं की जा सकती थी ताकि उससे बचने के लिये प्रबन्ध किया जा सकता। जर्मनी ने एक यूरोपीय युद्ध में विजय प्राप्त की और उसी विजयोल्लास में चाँदी को त्याग कर सुवर्ण मान के पक्ष में निश्चय किया। इससे वहाँ अभी तक उपयोग में आने वाली चाँदी की बहुत बड़ी मात्रा बेकार हो गई। जर्मनी की भाँति स्वेडन, डेनमार्क और नार्वे आदि देशों ने भी सुवर्ण मान को ही अपनाया। इस प्रकार अब तक लगभग सभी प्रभावशाली देशों में सुवर्ण मान का प्रयोग होने लगा था और वहाँ से बेकार होकर चाँदी अब ऐसे अन्य देशों की ओर बढ़ रही थी जहाँ उसका प्रयोग था। ऐसे देशों में भारत और चीन ही प्रमुख थे।

इन्हीं दो देशों में चाँदी की मात्रा अवश्यकता से कहीं अधिक बढ़ने लगी। दुर्भाग्य से इसी बीच चाँदी की कुछ खानें भी मालूम हुईं। परिणाम यह हुआ कि चाँदी की मात्रा में अत्यधिक वृद्धि हो जाने के कारण उसका मूल्य दिन पर दिन गिरने लगा। सन् १८७५-७६ में चाँदी का मूल्य लगभग ५७ पेंस प्रति औंस था। यह भाव घट कर सन् १८६२—६३ में ३६ पेंस प्रति औंस और सन् १८६८-६६ में तो केवल २७ पेंस प्रति औंस ही रह गया था। दूसरी ओर सोने की स्थिति कुछ और ही थी। संसार के प्रमुख देशोंमें सुवर्णमान स्थापित हो जानेके कारण सोने की माँग बढ़ रही थी जब कि उसकी मात्रा मांग की तुलना में बहुत ही कम थी। क्योंकि सोना अब तक पुरानी खानो से ही प्राप्त हो रहा था और नई खानें मिल नहीं रहीं थीं। इन सब बातों का संक्षेप में प्रभाव यह हुआ कि सोने के अनुपात में चाँदी का मूल्य बहुत ही गिर गया था। इसघटना से सबसे अधिक हानि भारत को ही उठानी पड़ी। भारत में चाँदी की मुद्रा रूपये का निर्माण निर्बाध था जिससे देश में द्रव्य की मात्रा में भी खूब वृद्धि के परिणाम स्वरूप रुपये का मूल्य गिर गया। इस गिरावट का अनुमान हम विनिमय दर से लगा सकते हैं। सन् १८७५-७६ में विनिमय दर १ शि० ६ $\frac{5}{8}$ पें थी। यह दर घटकर सन् १८६२-६३ मे केवल १शि० ३पें० और सन १८६४-६५ में (जब चाँदी का भाव लगभग २६ पेंस प्रति औंस था) १ शि० १$\frac{1}{8}$ पें० ही रह गई थी।

मूल्य बढ़ाने का प्रयत्न

चाँदी के मूल्य में गिरावट होने से संसार के प्रायः स देश चिन्तित थे क्योंकि इससे विनिमय दर पर और उस परिणाम स्वरूप विदेशी व्यापार पर प्रभाव पड़ता था। अ सन् १८७८ में इस प्रश्न पर विचार करने के लिये एक सम्मेल का आयोजन किया गया परन्तु उससे उद्देश्य पूर्ति में को सफलता नहीं मिली क्योंकि सभी राष्ट्रों का मत एक न होस जहाँ जहाँ सुवर्ण मान का अब तक प्रयोग था वह देश स्व मान ही चाहते थे और द्विधातु मान के पक्ष में नहीं थे

साथ ही यह प्रमुख राष्ट्र, उन देशों में जहाँ प्रचलन चाँदी का प्रयोग हो रहा था वहाँ सोने का प्रयोग हो जाने भी पक्ष में नहीं थे। फिर भी लोग यह अवश्य चाहते थे अंतर्राष्ट्रीय रूप में द्विधातुमान का प्रयोग किया जावे औ इसके लिये संसार के प्रमुख देशों को सोने और चाँदी के बी एक सर्वमान्य अनुपात स्थापित करना चाहिये। इससे मालू होता है कि बातें केवल दिखावटी थीं और लोग वास्तविक से बहुत दूर थे। सन् १८८१ में एक और सम्मेलन हुआ पर कोई लाभ नहीं हुआ। इसी प्रकार १८६२ में पुनः एक सम्मेल किया गया परन्तु वह भी निरर्थक रहा। हां, इसी बीच अमे रिका ने इतना अवश्य किया कि सन् १८७८ में ब्लैंड एलीस कानून और १८६० में शरमन कानून बना कर प्रतिवर्ष बहु अधिक मात्रा में चाँदी मोल ले कर उसे द्रव्य रूप में प्रयो

करना आरम्भ कर दिया था। इसका प्रभाव कुछ समय के लिए अवश्य अच्छा रहा। परन्तु सन् १८८२ वाले सम्मेलन में अमेरिका ने यह घोषित कर दिया था कि यदि सम्मेलन किसी उचित निष्कर्ष पर नहीं पहुँचेगा तो वह अपने इन कानूनो को रद्द करने के लिये विवश हो जावेगा और वैसा हुआ भी। सन् १८६२ में उपर्युक्त कानूनों से इस आशय की धाराएँ निकाल कर चाँदी मोल लेना बन्द कर दिया। इसी के परिणाम स्वरूप जैसा ऊपर बताया गया है इसी तिथि के बाद चाँदी का मूल्य निरन्तर गिरता ही गया।

भारत की समस्या

भारत में भी लोग प्रयत्नशील थे कि जिससे कुछ सुधार हो जाय। व्यापारियों ने इस सम्बन्ध में बहुत प्रयत्न किया और सर्वसाधारण की भी इच्छा थी कि चाँदी का निर्वाध मुद्रा निर्माण बन्द कर दिया जाय और अन्य देशों की भाँति यहाँ भी सुवर्ण-मान का प्रयोग हो। परन्तु पहिले तो भारत सरकार ने यह कह कर इन्कार कर दिया कि सुवर्ण-मान इस देश के लिये असम्भव है और दूसरे चाँदी की स्थिति सोना कम होने के कारण बिगड़ रही थी अर्थात् सरकार की समझ में चाँदी का मूल्य उसकी अत्यधिक वृद्धि के कारण नहीं बल्कि सोने की कमी के कारण गिर रहा था (और सोने की कमी के कारण ही सम्भवतः सुवर्ण मान का प्रयोग करना भी असम्भव बताया गया) परंतु अन्त में जब उन्हें स्वयं बड़ी असुविधायें

प्रतीत हुईं तो भारत सरकार ने इस आशय से इंगलैंड के भारत सचिव से पत्र व्यवहार भी किया परन्तु कोई परिणाम नहीं निकला। यह भी सुझाव रक्खा गया कि स्वर्ण मान का यहाँ भी प्रयोग किया जाय और चाँदी का निर्बाध मुद्रा निर्माण बन्द कर दिया जाय। इसके अतिरिक्त विनिमय दर १शि० ६पें० कर देने पर भी जोर दिया गया। परन्तु वह तो केवल भारत का प्रश्न था अतः इंगलैंड स्थित भारत सचिव को इतना अवसर नहीं मिल पाया कि वह उन सब प्रश्नों पर शीघ्र विचार कर उचित निर्णय कर सकते। अतः प्रश्न कुछ समय तक टालने के लिये १८९३ में एक समिति की नियुक्ति की गई। किसी भी मामले पर ध्यान न देने का अथवा उसे स्वतः हल न कर सकने का सबसे सरल उपाय यही है।



५

१८६३—१६००

हर्शल समिति

भारत सरकार के अनुरोध पर अन्त में सन् १८६३ में हर्शल समिति की नियुक्ति हुई जिसके सामने निम्नलिखित बातें विचारार्थ प्रस्तुत की गईं।

(१) भारत सरकार की आर्थिक समस्याएँ।

(२) चाँदी का गिरता हुआ मूल्य।

(३) भारत में रहने वाले अंग्रेज कर्मचारियों की असुविधा।

(४) गिरती हुई विनिमय दर और उसका प्रभाव।

(५) प्रस्तुत द्रव्य व्यवस्था।

इन प्रश्नों पर हम अलग अलग विचार करेंगे।

सरकार की समस्या

(१) भारत सम्बन्धित कुछ व्यय इंगलैंड में भी होता था जिसे पूरा करनेके लिये सरकार को प्रति वर्ष लाखों रुपया भेजना पड़ता था। जैसा पहिले बताया गया है उस समय विनिमय दर दिन पर दिन गिरती जाती थी अतः इस व्यय को पूरा

करने के लिये भारत सरकार का रुपयों में आर्थिक भार भी बढ़ता जाता था क्योंकि व्यय की रकम पौंड स्टर्लिङ्ग में निश्चित थी। विनिमय दर गिरते रहने के कारण सरकार कभी यह ठीक ठीक निश्चय ही न कर पाती थी कि उसे अमुक वर्ष में कितना रुपया देना पड़ेगा, क्योंकि जैसे जैसे दर कम होती जाती थी उसी अनुपात से सरकार को अधिक रुपये देने पड़ते थे। जैसे एक छोटे से उदाहरण स्वरूप यह मान लिया जाय कि इस व्यय के लिये किसी वर्ष १०० पौंड देना है और विनिमय दर १ रु०=२ शि० है तो सरकार को इसके लिये १००० रुपया देना पड़ेगा। यदि दर घटकर १ शि० ही रह जाय तो भारत सरकार को उतने ही व्यय को पूरा करने के लिये अब २००० रुपया देना पड़ेगा। इस प्रकार सरकार को अपना आय व्यय का लेखा तैयार करने और साल भर उसे ठीक ठीक निबाहने में बड़ी अड़चन पड़ती थी। इस बढ़ते हुए आर्थिक भार को पूरा करने के लिये उसे नये नये कर लगाने के लिये वाध्य होना पड़ता था जिसका सर्वसाधारण द्वारा विरोध किया जाना स्वाभाविक और उचित भी था। दूसरी ओर देश में द्रव्य की मात्रा में वृद्धि हो जाने के कारण वस्तुओं का मूल्य भी बढ़ रहा था जिससे सभी सरकारी कर्मचारी अधिक वेतन की माँग करने लगे थे। दूसरे देशों से आयात कम हो जाने के कारण सरकार की चुङ्गी आदि से होने वाली आय भी कम हो रही थी। इस कारण सरकार बड़े आर्थिक संकट में पड़ी हुई थी।

चाँदी का मूल्य

(२) चाँदी का मूल्य गिर रहा था। इससे सर्वसाधारण को बड़ी हानि उठानी पड़ रही थी, क्योंकि उन्होंने अपनी बचत और पूँजी आदि इसी में संग्रह कर रक्खी थी। बाहर देश वाले यहाँ वालों को चाँदी के ही द्वारा भुगतान आदि करते थे। चाँदी सस्ती थी और उसका मुद्रा निर्माण निर्वाध हो रहा था। इसके परिणाम स्वरूप मूल्यस्तर खूब बढ़ने लगा वस्तुओं का मूल्य बढ़ने से सर्व साधरण की स्थिति और भी दयनीय हो गई थी। मुख्यकर उन लोगों की दशा बहुत ही शोचनीय थी जिनकी आय स्थिर थी और उसमें वृद्रि होने की कोई सम्भावना नहीं थी।

अंग्रेज कर्मचारियों की माँग

(३) भारत में रहने वाले अंग्रेज कर्मचारियों की समस्या दूसरे प्रकार की थी। वे अपने ऊपर निर्भर परिवार के लिये इङ्गलैंड द्रव्य भेजा करते थे। यहाँ उनका वेतन रुपयों में निश्चित था जिसका थोड़ा अंश वे अपने देश भेज देते थे। विनिमय दर अधिक होने पर उनके परिवार वालों को इङ्गलैंड में अधिक द्रव्य मिलता था और दर गिर जाने के कारण इंगलैंड में लोगों को कम मिलने लगा था। इस प्रकार जैसे-जैसे दर गिरती जाती थी लोगों की हानि बढ़ती जाती थी। अतः अंग्रेज कर्मचारियों ने भारत सरकार से इस बात का अनुरोध किया कि उनकी इस क्षति को पूरा करने का उचित प्रबन्ध

किया जाय। उसके दो उपाय थे: प्रथम वेतन वृद्धि और द्वितीय विनिमय दर का बढ़ाना। सरकार के सामने यह समस्या बड़े ही जटिलरूप में प्रस्तुत थी। दूसरी ओर इंगलैंड में भी लोगों ने भारत सचिव के सम्मुख अपनी इस क्षति की समस्या प्रस्तुत की। इस प्रकार भारत और इंगलैंड दोनों स्थानों पर सरकार के सामने बड़ी विकट स्थिति थी जिसका सुलझाना एक प्रकार से अनिवार्य था।

विनिमय दर

(४)विनिमय दर स्थिर न रहने के कारण व्यापारियों को सबसे अधिक चिन्ता थी। मूल्य स्थिरता न होने से एक प्रकार की व्यापारिक अनिश्चितता पैदा हो गई थी। रुपये का मूल्य निरंतर गिरने के कारण अन्य देश वाले मुख्यकर इंगलैंड के लोग यहाँ पर अपनी पूँजी भी नहीं भेजना चाहते थे क्योंकि उन्हें उसका कम मूल्य मिलता। यद्यपि विनिमय दर गिरने से देश का निर्यात व्यापार बढ़ सकता था। लेकिन हम जानते हैं कि देश के उद्योग धन्धे नष्ट किये जा चुके थे, अतः उन्हें प्रोत्साहन पाने की कोई सम्भावना नहीं थी। इसके विपरीत जो बड़े बड़े कारखाने स्थापित किए जा रहे थे उनके लिए विदेश से मशीनें आना अनिवार्य था। परन्तु इस प्रकार के आयात से देश को हानि थी क्योंकि विनिमय दर लगातार गिरने के कारण देश को बढ़ती हुई मात्रा में रुपया देना पड़ता था।

द्रव्य व्यवस्था

(क) द्रव्य व्यवस्था के सम्बन्ध में भारत सरकार का प्रस्ताव था कि (१) चांदी का निर्बाध मुद्रा निर्माण बन्द करके स्वर्ण-मान स्थापित कर दिया जाय परन्तु स्वर्ण मुद्रा का प्रचलन में प्रयोग न किया जाय और (ख) विनिमय दर १ रु०=१ शि ६पे० कर दी जाय।

समिति की राय

समिति ने इन सभी बातों पर भली प्रकार विचार किया और अपनी सम्मति इस प्रकार दी:

(१) सोने और चाँदी दोनों का निर्बाध मुद्रा निर्माण बन्द कर दिया जाय।

(२) देश का असीमित सर्वमान्य द्रव्य रुपया माना जाय।

(३) सरकारी खजाने में सोने की मुद्राएँ १ रु०=१ शि० ४ पे० की दर से स्वीकार की जायें।

(४) सरकार को सोने के बदले १ रु०=१ शि० ४ पे० की दर से रुपया बनाने का अधिकार रहे।

इस सम्मति का यह आशय निकाला जा सकता है कि यद्यपि समिति ने स्पष्ट रूप से स्वर्ण मान स्थापित करने की राय नहीं दी किन्तु उसका कुछ झुकाव इस ओर अवश्य था, भले ही इस कार्य की पूर्ति में कुछ समय लगता।

सन् १८९३ का द्रव्य विधान और उसका प्रभाव

समिति की सलाह को कार्यान्वित करने के उद्देश्य से

८६३ में मुद्रा सम्बन्धी एक कानून बनाया जिसके द्वारा सन् ८७० के पुराने कानून का संशोधन भी हो गया। इस कानून के अनुसार निम्नलिखित कार्यवाही की गई :

(१) सोने और चाँदी का निर्बाध मुद्रा निर्माण बन्द कर दिया गया ।

(२) टकसाल में सोना और सोने की मुद्राएँ १ रु० =१शि० ४ पे० की दर से रुपयों के बदले स्वीकार की जाने लगीं ।

(३) सावरेन और अर्ध सावरेन क्रमशः १५ रु० और ७ रु० ८ आ० के बराबर हो गया और इसी आधार पर स्वीकार किया जाने लगा ।

(४) सोना या सावरेन के बदले नोट उसी दर से प्राप्त होने लगे ।

उपर्युक्त कार्य्यवाही का परिणाम यह हुआ कि देश में द्रव्य की भारी कमी पड़ गई और लोगोंको एक बार फिर यह कहने का अवसर मिला कि देश की द्रव्य व्यवस्था में उचित स्थायी सुधार होना चाहिये । चाँदी के मूल्य और विनिमय दर पर भी कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ा था । कुछ समय तक तो दोनों का भाव लगातार पहले की तरह गिरता रहा परन्तु फिर सन् १८६५-६६ के लगभग गिरावट रुकी और भाव में कुछ वृद्धि भी हुई । परन्तु द्रव्य की कमी लोगों को अधिक प्रतीत हो रही थी अतएव भारत सरकार ने पुनः यह प्रस्ताव किया कि देश में सुवर्ण मान और

विनिमय दर में स्थिरता स्थापित करने के लिये शीघ्र व्यवस्था करनी चाहिये। इस उद्देश्य से भारत सरकार ने निम्नलिखित उपाय भी विचारार्थ प्रस्तुत किये :

(१) विनिमय दर बढ़ा कर १ शि० ४ पे० कर दी जाय।

(२) प्रचलन में रूपयों की मात्रा कुछ कम कर दी जाय।

(३) इंगलैंड में ऋण लिया जाय और उसका कुछ भाग भारत में सावरेन के रूप में भेज दिया जाय। उसे स्वर्ण कोष समझ कर उसके आधार पर यहाँ नोट चालू किये जाँय।

(४) प्रचलन में जो रुपये कम किये जाँय उन्हें गलाकर चाँदी रूप में बेचा जाय और उससे जो धन मिले उसकी सहायता से स्वर्णकोष और अधिक बढ़ाया जाय।

फाउलर समिति

इन प्रस्तावों को यद्यपि बाद में ठुकरा दिया गया क्योंकि प्रचलन में रुपयों की संख्या कम करने से द्रव्य की कमी हो जाने का भय था। परन्तु इसमें कोई सन्देह नहीं था कि देश की द्रव्य व्यवस्था में स्थायी सुधार की बड़ी ही आवश्यकता थी। अतः सन् १८९८ में एक और समिति नियुक्त की गई जो फाउलर समिति कहलाती है। इस समिति के सामने आगे दी हुई बातें विचारार्थ प्रस्तुत की गईं :

(१) भारत सरकार के प्रस्ताव (जिनका ऊपर उल्लेख किया गया है)।

(२) प्रस्तुत द्रव्य व्यवस्था और उसका स्थायी सुधार।

(३) विनिमय दर स्थिर करने का उपाय।

समिति ने सब बातों पर ध्यानपूर्वक विचार करने के बाद अपनी सम्मति इस प्रकार दी :—

(१) देश में सोने का असीमित और चाँदी का सीमित मुद्रा निर्माण किया जाय।

(२) सावरेन देश की सर्वमान्य साधारण रूप से प्रचलित मुद्रा समझी जाय और उसका मूल्य १५ रु० हो।

(३) जब विनिमय दर स्वर्ण सीमा के नीचे पहुँचने लगे सरकार लोगों को देश के अन्दर प्रयोग करने के लिये नहीं बल्कि बाहर भेजनेके लिये सोना दे।

(४) रुपया निर्माण में जो लाभ हो वह एक पृथक स्वर्ण मान कोष में जमा किया जाय और उसका प्रयोग विनिमय दर १ शि० ४ पें० सोने के बराबर बनाये रखने के लिये किया जाय।

(५) रुपया असीमित सर्वमान्य मुद्रा मानी जाय।

(६) जब तक सोने की मात्रा आवश्यकता से अधिक न समझी जाय नये रुपये न बनाये जाँय।

(७) रुपयों के बदले सोना देने के लिये सरकार बाध्य न हो।

इन सम्मतियों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि समिति ने देश में एक प्रकार से स्वर्णमान स्थापित करने की राय दी। यह पूर्ण स्वर्णमान इसलिये नहीं माना जा सकता कि रुपया सोने के साथ परिवर्तनीय नहीं था और साथ ही वह असीमित मुद्रा घोषित कर दिया गया था। एक प्रकार से यह वैकल्पिक द्रव्य मान कहा जा सकता है क्योंकि केवल सोने का ही मुद्रा निर्माण निर्वाध था जबकि प्रचलन में सोने और चाँदी की मुद्राएँ समान थीं। समिति के विचार से यह इसलिये उचित था कि देश का अधिकाँश व्यापार ऐसे देशों के साथ था जहाँ स्वर्णमान का प्रयोग हो रहा था। इसके अतिरिक्त ऐसा करने से समिति के मतानुसार देश में विदेशी पूँजी भी बढ़ेगी और उसकी बड़ी आवश्यकता भी थी। भारत सरकार भी इसके पक्ष में थी।

उपर्युक्त सम्मतियों को कार्यान्वित करने के लिये सन् १८९९ में कानून बनाया गया जिसके अनुसार (१) सावरेन और अर्ध सावरेन सर्वमान्य घोषित किये गये और उनका मूल्य क्रमश. १५ रु० और ७ रु० ८ आ० रक्खा गया (२) सन् १९०० में स्वर्णमान कोष भी खोल दिया गया।

इसके पश्चात् दैवयोग से अकाल आदि विपदाओं के कारण अन्य सम्मतियों पर कोई विचार न हो सका और वे केवल कागजी कार्यवाही के लिये ही उपयुक्त समझी गईं।



६

१६००—१६१४

फाउलर समिति की राय की उपेक्षा

फाउलर समिति के बाद देश में जो घटनायें घटित हुईं उनके कारण न केवल समिति की राय के अनुसार द्रव्य व्यवस्थाओं में सुधार करना असम्भव हो गया बल्कि परिस्थिति बहुत ही बिगड़ जाने से कुछ ऐसे भी कार्य किये गये जिनकी फाउलर समिति कल्पना भी नहीं कर सकती थी। समिति ने राय दी थी कि देश में स्वर्ण-मुद्राओं का प्रयोग किया जाय। सम्भवतः लोग ऐसा चाहते भी थे। परन्तु सन् १८६६ से १६०१ तक देश में अकाल की स्थिति होने के कारण स्वर्ण मुद्राओं का प्रचलन अधिक न हो सका। चारों ओर चाँदी के रुपयों की माँग बढ़ रही थी। सरकार को स्वयं सुधार तथा सहायता के लिये अधिक से अधिक द्रव्य की आवश्यकता थी। इसी कारण सन् १६०० में रुपया बनाना फिर प्रारम्भ कर दिया गया। इस समय की दूसरी अनहोनी घटना यह थी कि मुद्रा-निर्माण में जो लाभ होता था वह एक पृथक कोष में नहीं रक्खा गया

सम्बन्धी कार्यों में किया गया। एक अन्य बात यह हुई कि यह कोष पूर्ण रूप से सोने में नहीं रक्खा गया; साथ ही उसका कुछ भाग इंगलैंड भी भेज दिया गया क्योंकि भारत में उसका रखना उचित नहीं समझा गया ! विनिमय दर को यथा सम्भव स्वर्ण आयात और निर्यात पीमा के अन्दर बनाये रखने के लिये विचित्र उपाय प्रयोग में लाया जा रहा था ताकि भारत में किसी भी प्रकार सोना न आने पाये ! भारत के आयात और निर्यात व्यापार का अन्तर सदैव अनुकूल ही रहता था। इससे यह स्वाभाविक था कि रुपये का मूल्य अर्थात् विनिमय दर में वृद्धि होती और इस प्रकार देश में सोने का आयात होने लगता परन्तु जिससे सोना इस देश में न आने पाये, इंगलैंड स्थित भारत सचिव भारत सरकार पर हुण्डियाँ चालू कर उन्हें इंगलैंड में उन लोगों के हाथ बेच देते थे जिन्हें यहाँ से मँगाये हुये माल का भुगतान करना होता था अर्थात् जब कभी विनिमय दर १ शि० ४ १/८ पें० से अधिक होने लगती थी इस प्रकार की हुण्डियाँ इंगलैंड में भारत से सामान मँगाने वालों को सरलता से मिल सकती थीं इसलिये उन्हें सोना भेजने की आवश्यकता नहीं थी। जब ये हुण्डियाँ यहाँ आ जाती थीं तो भारत सरकार द्वारा उन्हें चुका दिया जाता था। इसके विपरीत जब कभी देश में आयात और निर्यात् का अन्तर प्रतिकूल होता था तो भारत सचिव के संकेत पर भारत सरकार भारत सचिव पर हुण्डियाँ चालू करने लगती थी परन्तु ऐसा करने का अव-

सर बहुत कम आता था। सन् १९०७--८ में अवश्य ऐसी स्थिति पैदा हो गई थी। उस समय आयात अधिक बढ़ जाने से विनिमय दर गिरने का भय था अतः भारत सरकार १ रु० = १ शि० ३ २९/३२ पें० के हिसाब से हुण्डियाँ बेचने को तैयार थी।

वास्तव में यदि ध्यान से देखा जाय तो द्रव्य व्यवस्था का यह कोई ढंग नहीं था बल्कि भारत से धीरे धीरे सोना खसीटने की यह एक सुव्यवस्थित राजनैतिक चाल था। अकाल के समय जब सोने की मुद्राओं का अधिक प्रचार न हो सका तो कहा गया कि भारत के लोग चाँदी का रुपया चाहते हैं और सोने की मुद्राओं की उन्हें अधिक चाह नहीं है। इसी बहाने से १९०२ में यह निश्चित किया गया कि इस देश में सोने की मुद्रा प्रयोग करने का विचार व्यर्थ है। वास्तव में बात यह थी कि उस समय लोग अकाल आदि आपदाओं से पीड़ित थे और देश में दरिद्रता थी इसीलिये क्रय विक्रय का अधिकांश काम कम मूल्य का होता था जिसे पूरा करने के लिये कम मूल्य की ही मुद्राओं की आवश्यकता थी। यह कहना तो सर्वथा झूठ ही होगा कि लोग स्वर्ण की मुद्रा नहीं चाहते थे। लोग स्वर्ण मुद्रा चाहते थे यह इसी बात से स्पष्ट है कि स्वर्ण मुद्रा का प्रयोग इस देश में अति प्राचीन काल से होता आया है जैसा हमने इस परिच्छेद के प्रारम्भ में बताया है और जैसा पहले लिखा जा चुका है। समय समय पर लोगों ने स्वर्ण मुद्रा या स्वर्णमान स्थापित करने के लिये कई बार अनुरोध भी

किया था। स्वर्ण के रूप में इस देश से इतना अधिक द्रव्य इंगलैंड चला गया कि यहाँ एक प्रकार से द्रव्य की कमी ही पड़ गई थी। इससे इस देश के उद्योग और व्यापार का बहुत बड़ा अहित हुआ। यह केवल इसलिये किया गया कि जिससे अङ्गरेजी व्यापार और उद्योग धन्धों की वृद्धि हो। विनिमय दर की स्वर्ण सीमा के नीचे असीमित मात्रा में भारत सचिव द्वारा इंगलैण्ड में हुण्डियों का बेंचा जाना ऐसी ही नीति का परिचायक है। स्वर्णमान कोष भारत में न रख कर उसे लन्दन भेज देना एक दूसरा उदाहरण है जिससे इस विचार की और अधिक पुष्टि होती है। इस प्रकार की नीति के कारण लोगों में सरकार के प्रति काफी क्षोभ उत्पन्न होने लगा था। भारत सचिव पर भारत .सरकार द्वारा हुण्डियों के प्रयोग में देश को बहुत बड़ी हानि उठानी पड़ी थी। सुवर्णमान कोष रेलवे के कार्यों में प्रयोग कर लिया गया था। नोटों को सुरक्षित रखने के लिये जो कोष संरक्षित था उसका भी एक बहुत बड़ा अंश लंदन भेज दिया गया था। ये सब ऐसे अपवाद थे जिनके कारण लोग सरकार की बड़ी कटु आलोचना करने लगे थे। अतः सर्वसाधारण का विश्वास पाने के लिये यह अत्यन्त आवश्यक था कि इन सब बातों का स्पष्टीकरण किया जाता और उसके साथ ही देश की द्रव्य व्यवस्था में ठीक ठीक सुधार किया जाता।

चेम्बरलेन समिति

ऐसी परिस्थिति में सन् १९१३ में फिर एक समिति की

नियुक्ति की गई जो चेम्बरलेन सामति कहलाती है। इस समिति के सम्मुख दो प्रमुख बातें प्रस्तुत थीं :

(१) भारत सचिव और भारत सरकार के बीच प्रयोग में आने वाली उन हुण्डियों का प्रश्न जिनके द्वारा विनिमय दर पर नियंत्रण था।

(२) सुवर्णमान कोष और कागजी द्रव्य कोष का प्रयोग जिस प्रकार सरकार द्वारा किया गया था उस पर विचार।

सरकार के कार्यों की इतनी आलोचना होते हुये भी इस समिति ने उन सबका पक्ष कर उन्हें उचित ठहराया और अपनी सम्मति इस प्रकार दी :—

(१) भारत में आन्तरिक प्रयोग के लिये सोने का कोई आवश्यकता नहीं है।

(२) सरकार को चाहिये कि लोगों की इच्छानुसार उन्हें नोट, रुपया या सोना देती रहे परन्तु नोटों के प्रयोग को प्रोत्साहित करना चाहिये।

(३) रुपयों से जो लाभ हो वह स्वर्णमान कोष में रखना चाहिये। उसकी कोई निश्चित सीमा नहीं है परन्तु उसका अधिकांश भाग सोने में होना चाहिये।

(४) इस कोष को रखने का उचित्त स्थान लंदन है।

(५) भारत सरकार इङ्गलैंड में भुगतान के लिये १ शि० ३ $\frac{२६}{३२}$ पें० की दर से हुण्डियाँ बेचती रहे।

(६) नोटों को सुरक्षित रखने की पद्वति अधिक लचनशील होनी चाहिये।

(७) ५०० रु० वाले नोट सर्वत्र एक समान मान्य कर देना चाहिये।

(८) भारतसचिव भारत सरकार पर हुण्डियाँ आवश्यकतानुसार चालू रक्खे।

(९) भारत में स्वर्ण मुद्रा निर्माण के लिये टकसाल की कोई आवश्यकता नहीं है क्योंकि लोग स्वर्ण मुद्रा नहीं चाहते हैं।

(१०) सुवर्णमान कोप का भारत स्थित अंश समाप्त कर देना चाहिये।

समिति की रिपोर्ट पर विचार हो ही रहा था कि इसी च सन् १९१४ में प्रथम विश्वयुद्ध प्रारम्भ हो गया। लेकिन र भी इतना अवश्य हुआ कि सुवर्णमान कोष का भारत- थत अंश समाप्त हो गया और नोटों को भुनाने में अधिक वेधा दे दी गई। युद्ध के छिड़ जाने से समिति की अन्य तों पर कोई निर्णय न हो सका।

७

१९१४—१९१९

युद्ध प्रारम्भ से पूर्व द्रव्य व्यवस्था

सन् १९१४ में प्रथम विश्व युद्ध प्रारम्भ हो जाने से देश की समस्त आर्थिक स्थिति बदल गई। इस युद्ध का वास्तव में क्या प्रभाव पड़ा यह समझने के लिए सबसे पहिले हम युद्ध से पूर्व उस समय की द्रव्य व्यवस्था का उल्लेख कर देना उचित समझते हैं क्योंकि इससे यह समझने में सरलता हो जायगी कि युद्ध के समय द्रव्य व्यवस्था में मुख्य परिवर्तन क्या क्या हुए। युद्ध काल के पूर्व द्रव्य सम्बन्धी स्थिति इस प्रकार थी:

(१) प्रचलन में अंग्रेजी सावरेन और अर्ध सावरेन का प्रयोग होता था। इसके अतिरिक्त चाँदी के रुपयों और नोटों का भी प्रयोग होता था। यद्यपि सुवर्ण मुद्राओं का असीमित प्रयोग था लेकिन वह कानूनी रूप से सर्वग्राह्य नहीं थीं। रुपया प्रामाणिक और सांकेतिक दोनों प्रकार की मुद्रा के समान था। नोट स्वर्ण में परिवर्तनीय नहीं थे। रुपया असीमित सर्वग्राह्य मुद्रा होते हुए भी आन्तरिक प्रयोग के लिए सोने में परिवर्तनीय नहीं था। थोड़े मूल्य की मुद्राएँ १ रु० की सीमा तक सर्व-ग्राह्य थीं।

(२) सुवर्ण और चाँदी की मुद्राओं में १रु० = १ शि० ४ पें० का अनुपात था यही विनिमय की दर थी। कृत्रिम उपायों से यह दर १ शि० ४ १/८ पें० (जो भारत के लिये स्वर्ण आयात सीमा थी) के ऊपर और १ शि० ३ २९/३२ पें० (जो भारत के लिए स्वर्ण निर्यात सीमा थी) के नीचे बढ़ने घटने नहीं दी जाती थी। जब कभी दर बढ़ने लगती थी तो इंगलैंड में भारत सचिव द्वारा और जब दर घटने लगती थी तो भारत सरकार द्वारा हुण्डियों का प्रयोग होने लगता था। इन हुण्डियों को चुकाने के लिये भारत और लंदन दोनों स्थानों पर कोष संरक्षित था जिसमें से उनका भुगतान होता था।

संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि कृत्रिम उपायों से चलने वाला यह सुवर्ण विनिमय मात्र था, जो साधारण परिस्थिति में ही कार्य दे सकता था। जैसे ही युद्ध प्रारम्भ हुआ उक्त व्यवस्था के असफल होने के लक्षण प्रतीत होने लगे।

प्रथम विश्व युद्ध और उसका प्रभाव

युद्ध प्रारम्भ होते ही (जैसा स्वाभाविक था) बैंक आदि संस्थाओं के प्रति लोगों का विश्वास कम होने लगा; व्यापारी वर्ग विशेष रूप से सशंकित हो गया। विश्वास कम हो जाने का दुष्परिणाम यह हुआ कि लोगों ने बैंक और डाकखाने से अपना अपना रुपया वापस लेना और नोटों का भुनाना प्रारम्भ कर दिया। युद्ध प्रारम्भ होने के बाद केवल दो महीनों में सेविङ्ग बैंक से ६ करोड़ रुपया निकल गया

था। लेकिन इस परिस्थिति का सतर्कता के साथ सामना किया गया, लोगों की माँग पूरी रक्खी गई। जिससे यह विषम परिस्थिति केवल साल भर तक ही चली। उसके बाद लोगों का विश्वास फिर बढ़ने लगा और इस क्षेत्र में कोई विशेष चिन्ता की बात नहीं रह गई। सोने की माँग भी बढ़ी परन्तु इस भय से कि कहीं हाथ से अधिक सोना न निकल जाय सरकार ने विज्ञप्ति प्रकाशित कर यह प्रतिबन्ध लगा दिया कि सोना पाने के लिये कम से कम १०००० पौंड की एक बार में माँग अवश्य होनी चाहिए, इससे कम होने पर सोना नहीं दिया जायगा। इसका आशय यह था कि सोना केवल बाहर भेजने के लिये लिया जाय और उसका देश के अन्दर प्रयोग न किया जाय। परन्तु व्यापारी वर्ग सदैव से ही बड़ा चतुर रहा है। इस प्रतिबन्ध के बाद न्यूनतम माँग पूरी करने के लिये कई व्यक्ति मिल जाते और सरकार से कम से कम १०००० पौंड का सोना ले लेते थे। इसका परिणाम यह निकला कि केवल ४ दिन में लगभग १८ लाख पौंड का सोना सरकार के हाथ से निकल गया। अन्त में विवश होकर सरकार ने सर्व साधारण को सोना देना बन्द ही कर दिया।

विदेशी पूँजी

युद्ध का प्रभाव विदेशी पूँजी पर भी पड़ा। बाहर के लोगों ने हानि के भय से अपना धन वापस लेना प्रारम्भ कर दिया, इस कारण भी लोगों ने रुपया समेटना आरम्भ कर दिया था।

यद्यपि यह घटना क्षणिक थी परन्तु उसका प्रभाव विनिमय दर पर अवश्य पड़ा जैसा हम आगे बतायेंगे ।

वाह्य व्यापार

युद्ध का प्रभाव देश के वाह्य व्यापार पर विशेष रूप से पड़ा । भारत सदैव से आयात की अपेक्षा निर्यात अधिक करता रहा है । युद्ध के समय यह परिस्थिति और भी अधिक अनुकूल हो गई । देश का अधिकांश आयात व्यापार इसलिये बन्द हो गया कि अन्य देश युद्ध सामग्री के उत्पादन में लग गये और इस लिये उन्होंने यहाँ माल भेजना बन्द कर दिया । दूसरी ओर देश का निर्यात व्यापार इसलिए बढ़ गया कि यहाँ से युद्ध सम्बन्धी वस्तुओं का उन देशों को जाना प्रारम्भ हो गया जो अंग्रेजों के साथ युद्ध में सहयोग दे रहे थे । देश का निर्यात व्यापार आशा से कहीं अधिक बढ़ा और आयात व्यापार कम हो गया । इससे आयात और निर्यात व्यापार का अन्तर भारत के पक्ष में शीघ्रता से बढ़ रहा था । व्यापारिक समृद्धि के कारण देश में द्रव्य की माँग भी बढ़ने लगी थी ।

चाँदी का मूल्य

इतनी भूमिका के बाद अब हम देखेंगे युद्ध के कारण उत्पन्न ऊपर लिखी बातों का चाँदी और विदेशी विनिमय पर क्या प्रभाव पड़ा । चाँदी का रुपया यहाँ चल ही रहा था । अन्य देशों में भी यदि पूर्ण रूप से नहीं तो किसी अंश में चाँदी का प्रयोग हो रहा था । इस कारण चाँदी की माँग शीघ्रता से बढ़

रही थी। परन्तु चाँदी का उत्पादन माँग की तुलना में बहुत कम था। परिणाम यह निकला कि चाँदी का मूल्य सन् १६१५ में २७ १/४ पें० प्रति औंस से बढ़ कर सन् १६१६ में ७८ पें० प्रति औंस हो गया। चाँदी का बढ़ता हुआ भाव देख कर कुछ लोगों ने रुपया गलाकर उसे चाँदी रूप में बेच कर लाभ उठाने की भी चेष्टा की।

विदेशी विनिमय

विनिमय दर पर युद्ध के आरम्भ में कोई विशेष महत्व-पूर्ण प्रभाव नहीं पड़ा। किन्तु बाद में प्रथम निर्यात अधिक होने से और द्वितीय देश का युद्ध की दृष्टि से महत्व बढ़ जाने के कारण रुपए की माँग उत्तरोत्तर बढ़ने लगी जैसा विनिमय दर से प्रकट होता है। जनवरी सन १६१७ में विनिमय दर १ शि० ४ १/४ पें० थी परन्तु क्रमशः बढ़कर यह दर दिसम्बर सन १६१६ में २ शि० ४ पें० हो गई।

देश में चाँदी की भरपूर मात्रा न मिलने के कारण द्रव्य की कमी के लक्षण दिखाई देने लगे। इंगलैंड स्थित भारत सचिव के सामने भी एक बड़ी विकट स्थिति पैदा हो गई क्योंकि उन्हें विनिमय दर पर नियंत्रण रखने के लिये भारत सरकार के ऊपर हुण्डियाँ चालू करनी पड़ती थीं जिन्हें चुकाने के लिये भारत सरकार के पास कोष सुरक्षित रहता था। अब यह भय पैदा हो गया कि कहीं ऐसा न हो कि द्रव्य की कमी के कारण इन हुण्डियों का ठीक ठीक भुगतान करना भी कठिन हो

जाय। अभी तक चेष्टा यह की जाती थी कि विनिमय दर स्वर्ण सीमाओं के अन्दर बनी रहे परन्तु जैसा ऊपर संकेत किया गया यह कार्य कठिन हो गया। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि अभी तक चलने वाला सुवर्ण विनिमय मान युद्ध के कारण उत्पन्न असाधारण स्थिति में असफल हो गया।

सरकार द्वारा कार्यवाही

परिस्थितियों का सामना करने के लिए सरकार ने निम्न उपायों का प्रयोग किया।

(१) इङ्गलैंड स्थित भारत सचिव ने भारत सरकार के नाम हुण्डियाँ लिखना कम कर दिया।

(२) विनिमय दर बढ़ा दी गई और उस पर नियन्त्रण रखा गया।

(३) रुपयों की माँग पूरी करने के लिये अमेरिका से चाँदी मोल ली क्योंकि उसकी माँग इतनी अधिक थी कि साधारण उपाय से बाजार में उसका मिलना कठिन था।

(४) सोने और चाँदी के सिक्के को गलाकर किसी अन्य प्रयोग में लाना अथवा उसका निर्यात करना कानून के विरुद्ध घोषित कर दिया।

(५) ढाई रुपया और एक रुपया के नोट चलाए गये और कम मूल्य धातु की नई अठन्नियां, चवन्नियां और दुअन्नियां प्रचलित की गईं।

(६) नोटों की मात्रा में वृद्धि की गई।

(७) युद्ध सम्बन्धी ऋण लिया गया।

८

१६१६-१६२६

बैबिङ्गटन स्मिथ समिति

जैसा पहले बताया गया है देश की द्रव्य व्यवस्था सन्तोष-जनक नहीं थी। युद्ध के पूर्व तक किसी प्रकार चलने वाला द्रव्य मान भी युद्ध की असाधारण परिस्थितियों में पड़ कर असफल सिद्ध हुआ। अतः युद्ध समाप्त होने पर द्रव्य व्यवस्था में पुनः स्थायी सुधार करने की दृष्टि से सन् १६१६ में एक और समिति की नियुक्ति की गई जो बैबिङ्गटन स्मिथ समिति कहलाती है। इस समिति के सामने प्रधान रूप से दो प्रश्न उपस्थित किए गये :

(१) भारतीय द्रव्य पद्धति और विनिमय पर युद्ध का प्रभाव।

(२) ऐसा उपाय जिससे व्यापार की द्रव्य सम्बन्धी आवश्यकताएँ पूरी की जा सकें, देश में द्रव्य का उचित मात्रा में चलन होता रहे और जिससे सुवर्ण विनिमय मान ठीक ढंग से चल सके।

इससे यह स्पष्ट है कि समिति को नियुक्त करने वाले यह चाहते थे कि देश में यद्यपि सुवर्ण विनिमय मान असफल

रहा है फिर भी उसे चालू रक्खा जाय ।

समिति की राय

समिति ने इन दोनों बातों पर छान बीन कर विचार किया और अपनी सम्मति की एक बहुत लम्बी रिपोर्ट प्रस्तुत की। समिति की अनेक सम्मतियों में प्रधान ये हैं:—

(१) विनिमय की दर यदि अधिक बढाकर रक्खी जाय तो उससे भारतीय उद्योग और व्यापार को कोई हानि नहीं है।

(२) रुपए की विनिमय दर स्टर्लिङ्ग की अपेक्षा सुवर्ण में निश्चित की जाय।

(३) रुपया और सोने का स्थायी अनुपात १० रु० = १ सावरेन है। विनिमय के लिए एक रुपया २ शि० सोने के बराबर होना चाहिए।

(४) सोने के आयात और निर्यात पर सरकारी प्रतिबन्ध न रहे।

(५) सोने का देश के अन्दर द्रव्य रूप में प्रयोग करने से भारत का हित न होगा।

(६) सावरेन और अर्ध सावरेन बम्बई में ढलने चाहिए।

(७) सावरेन के बदले रुपया देने के लिए सरकार वाध्य न रहे।

(८) सोने की मोहरों का प्रयोग बन्द किया जाय और सावरेन का प्रयोग अधिक होना चाहिए।

प्रतिबन्ध हटा लिया जाय लेकिन उसके निर्यात पर प्रतिबन्ध बना रहे।

(१०) अ--कागजी द्रव्य कोष में धातु अंश कमसे कम कुल प्रचलित नोटों का ४० प्रतिशत हो।

ब--कोष का साख पर आधारित अंश २० करोड़ हो।

स--१२० करोड़ की अधिकतम सीमा बनाये रक्खी जाय।

(११) स्टर्लिंग में लगा हुआ धन और कागजी द्रव्य कोष के सोने का मूल्याङ्कन २ शि० की विनिमय दर के हिसाब से किया जाय।

(१२) कागजी द्रव्य कोष का सोना और चाँदी साधारणतः भारत में रहना चाहिए।

(१३) नोट भुनानेकी अधिक सुविधाएँ दी जानी चाहिए।

(१४) सुवर्ण मान कोष की कोई सीमा न हो और रुपया ढलाई में जो लाभ हो वह सब इसी कोष में जमा होना चाहिए।

(१५) उपर्युक्त कोष में से आधा सोना भारत में रहना चाहिए।

(१६) जैसे ही विनिमय दर गिरने लगे भारत सरकार को इंगलैंड स्थित भारत सचिव के नाम हुण्डियाँ चालू कर देना चाहिए।

सरकारी कार्यवाही

समिति की राय को कार्यान्वित करने के लिये विज्ञप्तियाँ प्रकाशित की गईं जिनके अनुसार निम्नलिखित बातें हुईं:

(१) इंगलैंड में भारत सरकार के नाम प्रति सप्ताह हुण्डियाँ चालू की जाने लगीं।

(२) जब कभी विनिमय दर २शि० के नीचे गिरने लगे भारत सरकार द्वारा इंगलैंड स्थित भारत सचिव के नाम हुण्डियाँ चालू करना निश्चित हुआ।

(३) सावरेन और अर्ध सावरेन का पुनः प्रचलन।

(४) समिति की सम्मति के अनुसार चाँदी के आयात से सब प्रतिबंध हटा लिये गए।

श्री दलाल का विरोध

समिति के सदस्यों में एक भारतीय सदस्य दलाल महोदय भी थे। उनका अन्य सदस्यों से बहुत मतभेद था। मतभेद के विषयों में विनिमय दर का प्रश्न प्रमुख था। दलाल महोदय का तर्क था कि दर बढ़ा देने से भारतीय उद्योग धन्धों और निर्यात व्यापार को हानि होगी और साथ ही स्टर्लिंग में जो भारत का धन लगा है या जो और धन है उसे बढ़ी हुई दर के हिसाब से रुपयों में बदलने पर देश को भारी हानि होगी। इसलिये विनिमय दर बढ़ानी न चाहिए। इसके विपरीत समिति के अन्य सदस्यों का मत यह था कि चाँदी का भाव ऊँचा ही रहेगा इस

लिए यदि विनिमय दर भी ऊँची सीमा पर स्थिर कर दी जाय तो सरकार को प्रचलित द्रव्य की मात्रा पर नियंत्रण रखने में सुविधा होगी। इसके उत्तर में दलाल महोदय का कहना था कि चाँदी का भाव तो केवल कुछ क्षणिक परिस्थितियों के कारण बढ़ गया था। लेकिन फिर भी यदि इच्छा होती तो सरकार चाँदी का भाव बढ़ने से रोक सकती थी। इसलिए विनिमय दर का भाव बढ़ने के लिए यह तर्क देना व्यर्थ था। दूसरे समिति का विचार था कि विनिमय दर बढ़ तो चुकी ही है अब उसे घटाने से मूल्यस्तर बढ़नेका भय है जिससे गरीब लोगोंको कष्ट होगा। इसके अतिरिक्त दर अधिक होने से भारत सरकार को इंगलैंड द्रव्य भेजने में बचत होगी। समिति का यह भी कहना था कि दर अधिक होने से निर्यात व्यापार कम नहीं होगा क्योंकि भारत से अधिकांश वस्तुएँ कच्चे माल और खाद्य पदार्थों के रूप में बाहर जाती हैं और इनकी माँग कभी कम न होगी। अतः भारत का निर्यात व्यापार कम हो जाने का कोई भय नहीं है। दलाल महोदय के तर्क पर कोई विशेष ध्यान नहीं दिया गया और समिति की राय को ही मान कर कार्यवाही की गयी।

अव्यवस्था काल

सन् १९२१ से सन् १९२५ तक का एक ऐसा समय रहा जब द्रव्य व्यवस्था में सुधार की आवश्यकता थी लेकिन उस पर किसी ने ध्यान नहीं दिया और स्थिति अपने आप बिगड़ती और

सुधरती रही। प्रारम्भ से ही यह मालूम होता था कि विनिमय की नई दर बनाए रखना अत्यन्त कठिन है। ऐसा ही हुआ भी सन् १९२० में दर १ शि० ५ पे० हो गई और सन् १९२१ में वह केवल १ शि० २ १/८ पे० (या १ शि० सोने के बराबर) रह गयी थी। इसका मुख्य कारण यह था कि देश के आयात और निर्यात का अन्तर प्रतिकूल था। इसके बाद जब यह अन्तर फिर अनुकूल हुआ तो विनिमय दर सन् १९२३ में १ शि० ४ पे० और सन् १९२४ में १ शि० ६ पे० हो गयी थी। गिरती हुई विनिमय दर को रोकने की भरसक चेष्टा की गई परन्तु कोई सफलता नहीं मिली। इससे यह सिद्ध हो गया कि सुवर्ण विनिमय मान जिसे चलाने का इतना प्रबन्ध किया जा रहा था इस देश के लिये अनुपयुक्त था। दलाल महोदय ने इसका प्रारम्भ से ही विरोध किया था परन्तु उस पर किसीने कान भी नहीं दिया। विनिमय दर पर नियंत्रण रखने के लिये भारत में स्टर्लिंग खरीदने की प्रथा का भी सन् १९२४ से प्रयोग किया गया जिसका प्रभाव वही था जो इंगलैंड में हुण्डी वेचने का। इस पद्धति ने हुण्डी वेचनेकी प्रथा को धीरे धीरे कम करने में बहुत बड़ी सहायता की लेकिन फिर भी यह कहा जा सकता है कि इस समय तक द्रव्य व्यवस्था का कोई स्थायी और उचित प्रबन्ध नहीं था।



६

१९२६—१९३९

वास्तव में यदि देखा जाये तो बैबिङ्गटन स्मिथ समिति के बाद से लेकर सन् १९२५ तक देश में द्रव्य सम्बन्धी कोई व्यवस्था ही नहीं थी। यद्यपि रुपये का मूल्य स्टर्लिङ्ग में बनाये रखने में सरकार को कुछ अंश तक सफलता अवश्य मिल सकी थी परन्तु द्रव्य व्यवस्था का यह कोई उचित ढंग नहीं था। यह तो केवल काम चलाऊ क्षणिक उपाय था। इस कारण देश में व्यापार को भारी हानि हो रही थी।

हिल्टन यंग समिति

लोगों ने इस दुर्व्यवस्था की कटु अलोचना आरम्भ कर दी थी जो उचित भी थी। अतः सन् १९२५ में द्रव्य सम्बन्धी जाँच के लिये फिर एक समिति की नियुक्ति की गई जो हिल्टन यंग समिति के नाम से प्रसिद्ध है। इसकी रिपोर्ट सन् १९१६ में प्रकाशित हुई। समिति की नियुक्ति मुख्यकर इस उद्देश्यसे हुई कि वह भारतीय द्रव्य और विनिमय व्यवस्था की जाँच करे और यह बताये कि क्या भारत के हित के लिये प्रस्तुत अवस्था में किसी सुधार की आवश्यकता है।

समिति ने उक्त प्रश्न पर विचार करने के बाद अपनी सम्मति इस प्रकार दी:—

१ साधारण प्रचलन में नोट और रुपये का प्रयोग किया जाय। उसकी स्थिरता सोने में बनाये रखने के लिए करेंसी सोने में परिवर्तनीय रखी जाय लेकिन सोने का प्रचलन में प्रयोग न हो।

(२) देश में केन्द्रीय बैंक—रिजर्व बैंक स्थापित किया जाय।

(३) द्रव्य की व्यवस्था केन्द्रीय बैंक द्वारा की जाय।

(४) एक रुपये के नोट असीमित कानूनी द्रव्य के रूप में फिर चालू किये जायँ और अधिक मूल्य के नोट रुपये और नोटों में परिवर्तनीय रक्खे जायँ।

(५) केन्द्रीय बैंक सोना मोल लेने और बेचने के लिये बाध्य समझा जाय, अगर कोई व्यक्ति कम से कम ४०० औंस तक का लेन देन करने को तैयार है। यह लेन देन रुपये के सुवर्ण सममूल्य के अनुपात से होना चाहिये।

(६) सावरेन और अर्द्ध सावरेन की अनिवार्य मान्यता हटा ली जाय।

(७) नोट का रुपयों में परिवर्तन करना बन्द कर दिया जाय।

(८) नोट सम्बन्धी कोष और सुवर्णमान कोष मिला दिया जाय।

(६) नाट क सम्बन्ध म अनुपातक काष प्रणाली क प्रयोग हो और उसमें सोने आदि का अंश ४० प्रतिशत रक्खा जाय।

(१०) रुपये का मूल्य १ शि० ६ पे० स्थिर कर दिय जाय।

(११) बिल और चेंक के ऊपर अभी तक लगने वाली टिकट बन्द कर दी जाय और बिलों के सादे फार्म डाकखाने में बेचे जायँ।

द्रव्य मान का प्रश्न

जैसा इस सम्मति से स्पष्ट है समिति ने सुवर्ण विनिमय मान का विरोध किया और सुवर्ण धातु मान का प्रयोग करने की राय दी। समिति के अनुसार सुवर्ण विनिमय मान उपयुक्त नहीं था क्योंकि यह पद्धति सरल नहीं थी और इसे बनाये रखने के लिये भारत सरकार तथा भारत सचिव के बीच चलनेवाला हुण्डियों का कृत्रिम उपाय काम में लाना पड़ता था। इस पद्धति में लचनशीलता की कमी थी और इस बात का भय बना रहता था कि कहीं सरकार द्वारा स्फीति की स्थिति न पैदा कर दी जाय। साथ ही विनिमय दर में स्थिरता बनाये रखने के लिये इस द्रव्य मान में स्वाभाविकता का गुण नहीं था जिससे बिना किसी अन्य उपाय का सहारा लिये विनिमय दर परिस्थितियों के आधार पर स्वतः ठीक बनी रहे।

चाँदी के मूल्य में परिवर्तन होते ही विनिमय दर में परिवर्तन हो जाता था इस प्रकार विनिमय दर कभी समान रूप से स्थिर नहीं रह पाती थी। इस द्रव्यमान के अन्तर्गत द्रव्य व्यवस्था पर सरकार का आवश्यकता से अधिक हस्तक्षेप होता था जिससे सर्व साधारण का विश्वास प्राप्त कर सकना कठिन था।

समिति ने स्टर्लिंग विनिमय मान (जिसका इसके पहिले प्रयोग हो चुका था) पर भी विचार किया परन्तु सुवर्ण विनिमय मान के दोष समिति को उसमें भी मिले। इससे समिति ने इस द्रव्य मान का भी विरोध किया। उसने यहाँ तक कहा कि स्टर्लिंग द्रव्य मान इसलिए और भी अनुपयुक्त है कि उसके अंतरगत भारतीय द्रव्य, विनिमय और वस्तुओं के मूल्य आदि की व्यवस्था इंगलैंड की व्यवस्था पर आश्रित हो जाती है जो भारत के लिए हितकर नहीं है। समिति ने सुवर्ण मुद्रा मान का विरोध किया कि सम्भव है भारत को आवश्यकता के अनुसार सोना न मिल सके और साथ ही यह भी शंका थी कि यदि सोने की माँग बहुत अधिक बढ़ गई तो उसका मूल्य भी बढ़ने लगेगा। साथ ही इस सम्बन्ध में समिति का ध्यान भारत के उन लोगों की ओर भी गया जिन्होंने अपनी बचत और सम्पत्ति आदि चाँदी में रख छोड़ी थी। समिति का अनुमान था कि चाँदी का द्रव्य रूप में प्रयोग न होने पर उसका मूल्य गिर जायगा और इस प्रकार चाँदी रखने वाले

लोगों को बड़ी हानि होगी। अन्त में समिति ने सुवर्ण मुद्रा मान का यह कह कर भी विरोध किया कि ऐसे समय में जब अन्य देश सोना संग्रह कर रहे हैं यहाँ सोने की मुद्रा का प्रचलन होना ठीक नहीं मालूम होता।

विनिमय दर पर मतभेद

हिल्टन यग समिति की प्रमुख राय यह थी कि विनिमय दर १ शि० ६ पें० रक्खी जाय। इस की लोगों ने काफी आलोचना की है और उस समय से विनिमय सम्बन्धी यह एक बहुत ही महत्वपूर्ण विषय बन गया है। समिति के एक प्रभावशाली भारतीय सदस्य श्री पुरुषोत्तमदास ठाकुरदास ने १ शि० ६ पें० दर का घोर विरोध किया। उनके मतानुसार यह दर देश के लिये हानिकर थी और वास्तव में दर १ शि० ४ पे० होनी चाहिए थी। दोनो ओर से इस सम्बन्ध में अनेक तर्क उपस्थित किये गये जिनका संक्षिप्त विवरण हम नीचे दे रहे हैं।

१ शि० ६ पें० का पक्ष

समिति ने १ शि० ६ पें० का पक्ष करते हुये निम्नलिखित तर्क दिये :—

(१) इस दर के आधार पर देश के अन्दर मूल्यस्तर और लोगों का वेतन आदि स्थिर हो गये हैं, अब यदि दर में कोई परिवर्तन किया जायगा तो उसका प्रभाव हितकर न होगा।

(२) इस दर के अनुसार लोगों ने यदि कोई ठेके या वा
कर रक्खे हैं तो उनमें किसी प्रकार की हानि न होगी।

समिति ने १ शि० ४ पें० के विरोध में निम्नलिखित त
प्रस्तुत किये :—

(१) १ शि० ४ पें० की दर स्वाभाविक रूपसे स्थिर हो
वाली दर नहीं जैसा विरोधी लोगों का अनुमान है। उस दर के आधार पर देश में मूल्यस्तर और वेतन आदि स्थिर नहीं हुए हैं। अतः यदि दर १ शि० ४ पें० कर दी जायगी तो इससे मूल्य स्तर में बड़ा उलट फेर हो जाने से सर्वसाधारण को हानि होगी।

(२) १ शि० ४ पें० की दर आयात और निर्यात का अन्तर प्रतिकूल होने पर बनाये रखना कठिन हो जायगा।

(३) यदि दर १ शि० ४ पें० कर दी जायगी तो इससे सरकार की आर्थिक स्थिति संकट में पड़ जायगी और सम्भव है सरकार को इङ्गलैंड में अपना ऋण चुकता करने के लिये कर लगाना पड़े।

(४) लोगों का यह कहना ठीक नहीं है कि दर १ शि० ४ पें० कर देने से सोने का आयात होना रुक जायगा और उसका भाव बढ़ जायगा। क्योंकि समिति के मतानुसार सोने का आयात और भी कई कारणों से हो रहा था जिनका दर नीची करके रोकना कठिन था।

१ शि० ४ पें० का पक्ष

समिति के विरोधी सदस्य ने १ शि० ४ पें० के पक्ष में ये तर्क प्रस्तुत किये :—

(१) यह दर गत बीस वर्ष से चालू रही है अतः यह तब तक न बदली जाय जब तक इसे बनाये रखना असम्भव न हो जाय।

(२) अगर इङ्गलैंड में भुगतान देने में कोई हानि होगी तो वह अन्य ओर से (व्यापार और उद्योग की वृद्धि से) पूरी कर ली जायगी।

(३) इस दर से भविष्य में वादा देने वालों को कोई हानि न होगी।

(४) इस दर से आयात और निर्यात का अन्तर प्रतिकूल होने पर भी कोष में कमी न होने पावेगी।

(५) जैसा अन्य देशों ने किया है भारत को भी युद्धकाल से पूर्व प्रचलित दर को अपनाना चाहिये।

विरोधी पक्ष ने १ शि० ६ पें० के विपक्ष में निम्नलिखित बातें कहीं :—

(१) १ शि० ६ पें० की दर कृत्रिम उपायों द्वारा बनाये रक्खी गई थी अतः वह स्वाभाविक रूप से स्वतः चलने वाली दर नहीं है।

(२) इस दरके आधार पर मूल्यस्तर और लोगों के वेतन में कोई सामञ्जस्य स्थापित नहीं हो सका है।

(३) इस दर के प्रयोग से विदेशी उद्योग धन्धों को प्रोत्साहन मिलता है और भारत का इस प्रकार अहित होगा।

(४) इस दर के अपनाने से ऋणी वर्ग को हानि होगी।

(५) इस दर के कारण ही लोगों की क्रय शक्ति कम हो गई है जैसा गिरते हुए आयात से स्पष्ट है।

समिति की राय पर सरकारी कार्यवाही

इतना वाद-प्रतिवाद होते हुए जब रिपोर्ट सरकार के सामने प्रस्तुत हुई तो सरकार ने समिति की राय के अनुसार यह कार्यवाही की :—

(१) नोट, रुपया और अठन्नी को असीमित द्रव्य घोषित कर दिया और उनके प्रचलन की मात्रा सरकार की इच्छा पर निर्भर रक्खी गई।

(२) स्वर्ण की मुद्राएँ बाध्य रूप से मान्य नहीं रहीं परन्तु सरकारी खजाने में ग्राह्य बनी रहीं।

(३) सरकार सोना मोल लेने के लिये बाध्य थी। मूल्य २३ रु० १३ आ० १० पा० प्रति तोला था किन्तु कम से कम ४० तोला सोना अवश्य होना चाहिए।

(४) सोना या स्टर्लिङ्ग देने के लिये सरकार बाध्य थी किन्तु उसकी कम से कम मात्रा १०६५ तोला या ४०० औंस हो। इस प्रकार सन् १९२७ के द्रव्य सम्बन्धी कानून के अनुसार यद्यपि सुवर्ण धातु मान स्थापित करने की चेष्टा की गई परन्तु जिस प्रकार वास्तव में उसे चलाने की व्यवस्था हुई उससे यह

स्पष्ट था कि द्रव्यमान वास्तव में स्टर्लिङ्ग विनिमय मान था। रुपये और स्टर्लिङ्ग का सम्बन्ध स्थापित किया गया और उसे बनाये रखने का भी भरपूर प्रयत्न हुआ। सन १९२९ तक किसी प्रकार यह व्यवस्था चलती रही परन्तु फिर भी कभी कभी विनिमय दर में गिरावट के लक्षण प्रतीत होने लगते थे।

विश्वव्यापी मन्दी

जैसा हमने कई बार दोहराया है सरकार ने कभी यह प्रयत्न न किया कि देश की द्रव्य व्यवस्था में ऐसे सुधार किये जाते जो स्थायी हों। यह बात सन १९२७ के सुधार में भी लागू हो सकती है। यह प्रबन्ध १९२९ तक बिना किसी विशेष अड़चन के इसलिए चल गया कि इस बीच कोई असाधारण स्थिति उत्पन्न नहीं हुई। इसके बाद ज्योंही विश्वव्यापी व्यापारिक मन्दी प्रारम्भ हुई और सन १९३१ में इंङ्गलैंड ने सुवर्ण मान का परित्याग कर दिया इस देश की द्रव्य व्यवस्था पुनः अस्तव्यस्त हो गई। देश के बाह्य व्यापार को बहुत ही धक्का लगा और विनिमय दर में गिरावट के लक्षण बिल्कुल स्पष्ट थे। सरकार ने ट्रेजरी बिल चालू रक्खे और स्टर्लिङ्ग बेचकर द्रव्य की मात्रा कम करने की चेष्टा की। इस प्रकार सरकार ने जो उपाय १ शि० ६ पें० की दर बनाये रखने के लिये किये उनके परिणाम स्वरूप वस्तुओं का मूल्यस्तर बहुत गिर गया जिससे देश के व्यापार को बहुत हानि उठानी पड़ी और व्यापारियों ने इसका विरोध भी किया। इस सम्बन्ध में हमें

स्मरण रखना चाहिए कि सरकार ने १ शि० ६ पें० की दर निर्धारित कर अपनी अदूरदर्शिता का ही परिचय दिया और १ शि० ४ पे० के पक्ष में जो कुछ कहा गया था वह किसी प्रकार अनुचित नहीं था। स्वर्णमान का परित्याग हो जाने से इङ्गलैंड के स्टर्लिंग का मूल्य बहुत गिर गया। परन्तु रुपया फिर भी उसी मूल्य पर उससे सम्बन्धित बना रहा और अब भी है।

अन्य देशों ने अपने अपने यहाँ द्रव्य के मूल्य में सुधार कर लिया किन्तु भारत में रुपया स्टर्लिङ्ग के साथ बँधा होने के कारण कुछ भी सुधार न हो सका जिसके फलस्वरूप यहाँ के उद्योग और व्यापार दोनों को बहुत बड़ी क्षति उठानी पड़ी। देश में सबसे बड़ी हानि तो सुवर्ण के निर्यात के रूप में हुई। सन् १९३१ तक देश बराबर सोने का आयात करता रहा परंतु इसके बाद विनिमय दर के अधिक होने के कारण और देश का बाह्य व्यापार बिगड़ जाने से करोड़ों रुपये का सोना देश के बाहर निकल गया। केवल दस वर्ष के अन्दर सन् १९३१-४० तक लगभग ३ अरब ८२ करोड़ रु० मूल्य का सोना देश के बाहर निकल चुका था। अधिकारियों ने यह समझाने की व्यर्थ चेष्टा की सोने का यह निर्यात देश के लिये हानिकारक नहीं है। उस घटना के बाद और आज तक देश को जिन आर्थिक कठिनाइयों का सामना करना पड़ रहा है वे देश के सम्मुख हैं और उनसे यह स्पष्ट है कि सोने के इस भारी निर्यात से देश के ऊपर आर्थिक दृष्टि से बहुत हो

घातक प्रभाव पड़ा है। भले ही सरकार को इङ्गलैंड में भुगतान करने में कुछ लाभ रहा हो परन्तु यदि विनिमय दर इतनी अधिक न रखी जाती तो इस सम्बन्ध में होने वाली कल्पित हानि की पूर्ति व्यापार और उद्योग धन्धों में निश्चय रूपसे होने वाले लाभ द्वारा तो अवश्य ही हो जाती। उससे देश और देश वासियों को और भी अधिक लाभ होता, क्योंकि देश में व्यापारिक समृद्धि रहती और उद्योग धन्धे उन्नति करते जिससे हर व्यक्ति को अपनी शक्तियों का प्रयोग करने के लिये अवसर मिलता।

१०

द्वितीय विश्व-युद्ध

देश में विश्व के अन्य स्थानों की भाँति मन्दी चल ही रही थी और उसके कारण उत्पन्न आर्थिक संकटोंसे सर्वसाधारण को छुटकारा भी नहीं मिल पाया था कि इसी बीच सन् १६३६ में द्वितीय विश्व युद्ध का प्रारम्भ हो गया। भारत आश्रित देश था अतः इच्छा न होते हुए भी उसे इंगलैंड का युद्ध में साथ देना पड़ा।

युद्ध का प्रभाव

जैसा पिछले महायुद्ध के समय हुआ था इस बार भी युद्ध प्रारम्भ होते ही लोगों का सबसे पहिले ध्यान बैंक और डाकखाने की ओर आकृष्ट हुआ। देश में सरकार के विरुद्ध आन्दोलन चल ही रहा था और लोग युद्ध में सहयोग देने को भी तैयार नहीं थे अतः जैसे ही युद्ध प्रारम्भ हुआ लोगों ने बैंक और डाकखाने से अपना अपना रुपया वापस लेना प्रारम्भ कर दिया। देश में उस समय की सरकार के विरुद्ध तरह तरह की सनसनी पूर्ण बातें फैलने लगीं। युद्ध सम्बन्धी नियम लागू होने से लोगों की शंकाओं को और भी अधिक बल मिला जिससे बैंक और डाकखानों से और भी अधिक रुपया खिंचने लगा। लोगों ने सोना

चाँदी और रुपयों को दबाकर रखनो प्रारम्भ कर दिया। नोट भुनाकर चाँदी और रुपया लोगों ने संग्रह करना अधिक उचित समझा। सरकार को पिछले युद्ध का अनुभव था और बैंक भी पहिले से इस बार अधिक सतर्क थे अतः समस्या का सामना करने में अधिक कठिनाई नहीं हुई। बैंकों की अपेक्षा डाकखानों पर इसका बहुत अधिक प्रभाव पड़ा। सन् १९३५-३६ में डाकखाने में जमा कैश-सर्टिफिकेट का मूल्य लगभग ६५९८ लाख था जो सन् १९४३--४४में घटकर केवल ३४६४ लाख रह गया। इसी प्रकार डाकखाने के सेविंग बैंक में जमा रुपया जो सन् १९३९-४० में ७८३८ लाख था सन् १९४३-४४ में घटकर ६४२४ लाख रह गया। नोटों के बदले रुपया पाने की माँग प्रारम्भ में अधिक नहीं थी और औसत २ करोड़ प्रति सप्ताह का था परन्तु सन् १९४० के बाद जब फ्रांस का पतन हो गया तो माँग लगभग ४ करोड़ प्रति सप्ताह हो गयी।

युद्ध और व्यापार

युद्ध का प्रभाव देश के व्यापार पर भी पड़ा। कुछ वस्तुओं का आयात इसलिये बन्द हो गया कि उन वस्तुओं को भेजने वाले देश (जैसे जर्मनी) अब शत्रु के देश हो गए थे। जहाँ मित्र देशों से वस्तुएँ आ भी सकती थीं वहाँ दो बाधाएं उपस्थित थीं। प्रथम, युद्धके कारण माल शीघ्र नहीं आ सकता था क्योंकि यातायात के साधनों की अड़चन थी और दूसरे कुछ देशों ने युद्ध सम्बन्धी सामग्री बनाना आरम्भ कर दिया था और अब

वहाँ सर्व साधारण के उपभोग की वस्तुओं का बनना ही बन्द हो गया था। इसके अतिरिक्त युद्ध के कारण कुछ देशों ने देश के बाह्य व्यापार पर प्रतिबन्ध भी लगा दिये थे। साथ ही युद्ध के कारण विदेश में भुगतान देने पर भी प्रतिबन्ध लग गया था। इन सब अड़चनों के कारण देश का आयात व्यापार बहुत कम हो गया था। सन् १६३६-४० में आयात का कुल मूल्य लगभग १६५करोड़ रुपया था परन्तु सन् १६४३-४४ में घटकर केवल ११६ करोड़ रु० ही रह गया। देश का निर्यात व्यापार इसलिए कम हो गया कि जिससे माल प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूपसे शत्रु देशोंको न पहुँच सके और इसके अतिरिक्त यथासम्भव अधिक से अधिक मात्रा में वस्तुएँ देश में ही बनी रहें जिससे किसी भी दशा में उनकी कमी न पड़ने पाये। लेकिन इस सम्बन्ध में हमें यह ध्यान रखना होगा कि भारत इंगलैंड के आधीन था अतः उस समय की विदेशी सरकार ने इस ओर विशेष ध्यान नहीं दिया और युद्ध में सहायता के हेतु यहाँ से अधिक से अधिक वस्तुओं का निर्यात किया गया जिससे मित्र देशों की आवश्यकताएं पूरी होती रहीं। लेकिन फिर भी निर्यात व्यापार बहुत गिर गया था सन् १६३६-४० में निर्यात व्यापार का मूल्य २०० करोड़ रु० के ऊपर था परन्तु सन् १६४३-४४ घटकर वह २०० करोड़ रु० के नीचे हो गया था। हाँ यहाँ हमें यह अवश्य मानना पड़ेगा कि देश के आयात निर्यात व्यापार का अन्तर सदैव अनुकूल ही नहीं रहा बल्कि निरंतर बढ़ता रहा। सन् १६३८-३६ में यह अन्तर

लगभग ११ करोड़ रुपया था परन्तु १९४३-४४ में बढ़कर ८० करोड़ रुपया हो गया था। फल यह हुआ कि भारत के नाम इंगलैंड में स्टर्लिङ्ग के रूप में बहुत अधिक धन जमा हो गया जो उसे अपने निर्यात के भुगतान में विदेश से प्राप्त हुआ था। इस धन को स्टर्लिङ्ग के रूप में देश पर जो ऋण था उसका भुगतान करने में प्रयोग किया गया।

द्रव्य स्फीति और मूल्यस्तर

युद्ध के प्रभाव से साधारण वस्तुओं का मूल्यस्तर और उसके साथ सोने और चाँदी का भाव भी निरंतर बढ़ने लगा। मूल्यस्तर बढ़ने से और युद्ध सम्बन्धी व्यय की अधिकता के कारण देश में द्रव्य की माँग भी खूब बढ़ी। धातुओं का मूल्य अधिक हो जाने के कारण लोगों ने धातु मुद्राओं को गलाकर उन्हें बेचना आरम्भ कर दिया। कुछ चालाक लोगों ने नोटों को बट्टे पर भी मोल लेकर लाभ उठाना प्रारम्भ कर दिया था। इसलिए सरकार को विवश होकर इस प्रकार का सौदा अवैधानिक घोषित करना पड़ा। सरकार को अधिक द्रव्य की आवश्यकता पड़ी जिसे पूरा करने के लिए अधिक मुद्राएँ ढाली गईं और अधिक नोट छापे गए और उसके साथ ही नए नए कर भी लगाए गए। सन् १९३९—४० में प्रचलित नोटों का मूल्य २२९ करोड़ रुपया था। यह मात्रा उत्तरोत्तर बढ़ती ही गई। सन् १९४२—४३ में नोटों का मूल्य ६४४ करोड़ और १९४५—४६ में १२१९ करोड़ हो गया था। युद्ध के बाद भी

नोटों की मात्रा में कमी नहीं हुई क्योंकि सन् १९४७ -४८ में उनका मूल्य बढ़कर १२०४ करोड़ हो गया था। न केवल नोट बल्कि यथाशक्ति (क्योंकि चांदी की कमी थी) रुपया वाली नयी मुद्रा का भी चलन बढ़ता गया। सन् १९३९—४० में १२० करोड़ रु० का प्रचलन था और सन् १९४७—४८ बढ़कर १५५ करोड़ हो गया था। यहां हमें यह स्मरण रखना होगा कि युद्ध से पूर्व चलने वाले रुपया, अठन्नी और चवन्नी में चाँदी का अनुपात अधिक था। धीरे धीरे विक्टोरिया, एडवर्ड सप्तम और जार्ज पञ्चम और षष्टम की मुद्राएँ जिनमें चांदी का अनुपात ११/१२ था प्रचलन से हटा ली गई और उनके स्थान पर नई मुद्राओं का प्रचलन किया गया जिनमें चाँदी का अनुपात १।२ रह गया है। ये मुद्राएँ अब भी प्रचलित हैं। ऐसा करने का मुख्य उद्देश्य चाँदी बचाना है। साथ ही नई मुद्राओं के किनारे पनारीदार होने के कारण उनके अनुरूप जाली मुद्रा बनाना कुछ कठिन भी होगया है। इन सब उपायों से काम पूरा न होने पर सरकार ने सर्वसाधारण से ऋण लेना प्रारम्भ कर दिया।

सरकारी उपाय

युद्ध सम्बन्धी परिस्थितियों का सामना करने के लिए सरकार ने कई उपायों का व्यवहार किया। प्रथम, द्रव्य की बढ़ती हुई माँग को पूरा करने के लिए जैसा ऊपर कहा गया है कम चाँदी की नई मुद्राएँ जैसे रुपया, अठन्नी और चवन्नी

चलाई गई। अभी तक चलन वाली अधिक चाँदी की मुद्राएँ धीरे धीरे संख्या में कम कर दी गईं। दो रुपये और एक रुपये के नोटों का प्रयोग किया गया और अधिक मूल्य के नोटों का परिवर्तन इन्हीं नोटों में होने लगा। मुद्राओं का गलाना अवैधानिक घोषित किया गया और आवश्यकता से अधिक मुद्राओं का जमा करना भी कानून के विरुद्ध कर दिया गया। बेईमानी रोकने के लिये ५०० रु० और १००० रु० के नोटों पर रोक भी लगा दी गई थी। तांबे का मूल्य बहुत बढ़ने लगा था अतः कम ताँबे के नए आकार के पैसे प्रचलित किए गए जिनके बीच में छेद हैं और जो आकार में भी छोटे हैं। नोटों के भुनाने पर भी कुछ रोक लगा दी गई।

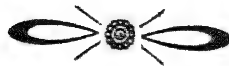
विदेशी विनिमय

विदेशी विनिमय पर नियंत्रण लगाया गया। युद्ध प्रारम्भ होते ही स्टर्लिङ्ग का मूल्य डालर की तुलना में गिर गया। युद्ध के पूर्व दोनों की विनिमय दर ४·६८ डालर थी। परन्तु युद्ध छिड़ते ही दर ४·४० या ४·१० रह गई। ऐसी स्थिति में सरकारी तौर पर दर निश्चित की गई। स्वेडन आदि देशों ने स्टर्लिङ्ग के प्रभाव से बचने के लिए अपने द्रव्य का सम्बन्ध उससे अलग कर लिया। परन्तु भारत पराधीन होने के कारण स्टर्लिंग से रुपए का सम्बन्ध विच्छेद न कर सका। सरकार ने समस्त विदेशी विनिमय सम्बन्धी लेन देन पर रोक लगा दी जिससे अब यह कार्य केवल केन्द्रीय बैंक की मध्यस्ता में हो

सकता था। दर सरकारी तौर पर निश्चित होने के कारण (यद्यपि बाजार भाव कम था) विदेशी विनिमय के लिए अधिक मूल्य देना पड़ता था इससे वस्तुओं के उत्पादकों को हानि उठानी पड़ी।

वाह्य व्यापार

आयात और निर्यात व्यापार पर नियंत्रण किया गया और उसके लिए पहिले से आज्ञा लेने का नियम बनाया गया। आमोद प्रमोद की वस्तुओं का आयात नहीं के बराबर हो गया था। उत्पादन अधिक न होने के कारण जिन वस्तुओं की कमी थी उन वस्तुओं के उपभोग पर नियंत्रण किया गया। मूल्यस्तर बहुत अधिक बढ़ जाने पर उन वस्तुओं के मूल्य पर रोक लगाई गई जो जीवन के लिए आवश्यक थीं। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि देश में द्रव्य स्फीति की स्थिति उत्पन्न हो गई थी जिसे यथा शक्ति कम करने का उपाय किया गया। परन्तु वास्तव में इस काम में कहाँ तक सफलता मिली है यह अब भी वस्तुओं के बढ़े हुए मूल्य से सर्व साधारण को भलो भाँति ज्ञात है।



११

वर्तमान स्थिति

पिछले अंशों को पढ़ने के बाद हम सहज ही इस निकर्ष पर पहुँचेंगे कि देश की द्रव्य नीति सदैव अनिश्चित रही है और इसीलिये द्रव्य व्यवस्था में कभी स्थायी सुधार नहीं हो सका और न उसमें स्थिरता ही आ सकी। व्यवस्था से वास्तव में हमारा आशय उस प्रबन्ध से है जो किसी एक निश्चित नीति का फल हो और जिसका पालन करने से किसी निर्दिष्ट सर्वहितकारी उद्देश्य तक पहुँचा जा सके। समय समय पर जिस नीति का आधार लिया गया और जिस प्रकार उसे कार्यान्वित किया गया उससे यह स्पष्ट है कि अधिकारियों ने अदूरदर्शिता से काम लिया और भारत का हित उनका लक्ष्य नहीं था। यही कारण है कि पिछली शताब्दी में इतने परिवर्तन होते हुए भी देश की द्रव्य नीति और व्यवस्था आज तक अनिश्चित है और उसमें सुधार की बड़ी आवश्यकता है। यह सुधार किस प्रकार हो सकता है और उसका क्या रूप होना चाहिए इसके लिये वर्तमान स्थिति का ज्ञान होना वांछनीय है अतः अपने देश की वर्तमान द्रव्य स्थिति का संक्षिप्त परिचय हम अगले पृष्ठों पर दे रहे हैं।

द्रव्य-मान

हम पीछे बता चुके हैं कि सन् १८९३ में हर्शल समिति ने और सन् १८९८ में फाउलर समिति ने सुवर्णमान अपनाने की राय दी थी। इसी प्रकार १९१३ में चेम्बरलेन समिति ने और सन् १९१९ में बैबिंगटन समिति ने सुवर्ण विनिमय मान स्थापित करने की सम्मति दी थी।

इसके बाद सन् १९२६ में हिल्टन यंग समिति ने सुवर्ण धातु मान का प्रयोग करने की सलाह दी। परन्तु इन सब सम्मतियों पर इस प्रकार कार्य किया गया कि वास्तव में स्टर्लिङ्ग विनिमय मान का प्रयोग हुआ। यद्यपि इसका प्रारम्भ बहुत पहिले एक विशेष परिस्थिति में हुआ था परन्तु सरकारी नियंत्रण के कारण वह अब भी वर्तमान है और ऐसा प्रतीत होता है कि मानों वह सदैव के लिये स्थिर हो गया है। इसके अंतर्गत देश के अन्दर नोटों और चाँदी तथा कम मूल्य वाली धातु की बनी मुद्राओं का प्रयोग होता है। रुपया सोने में परिवर्तनीय नहीं है और स्टर्लिङ्ग में उसका मूल्य १ शि० ६ पें० के बराबर है। उसका विनिमय मूल्य स्थिर रखने के लिये रिजर्व बैंक १ शि० ६ ३/१६ पें० की दर से स्टर्लिंग मोल लेने को और १ शि० ५ ४९/६४ पें० की दर से बेचने के लिये बाध्य है।

मुद्राएँ

मुद्राओं में रुपया प्रधान मुद्रा है जो तौल में १८० ग्रेन है। इसमें शुद्ध चाँदी का अनुपात १/२ है। यह असीमित और

अनिवार्य रूप से सर्वग्राह्य मुद्रा होने से देश की प्रामाणिक मुद्रा कही जा सकती है किन्तु इसका वास्तविक और मुद्रा-मूल्य बराबर न होने के कारण यह सांकेतिक मुद्रा भी है। रुपये के आधे के बराबर अठन्नी और चौथाई के बराबर चवन्नी का प्रचलन है। चाँदी की मात्रा रुपये के ठीक आधे और चौथाई के अनुपात के बराबर है। इस समय इन मुद्राओं के अतिरिक्त कम मूल्य वाली धातु की अन्य मुद्राओं का भी प्रयोग हो रहा रहा है जैसे दुअन्नी, इकन्नी, अधन्ना, पैसा आदि। रुपये और अठन्नी को छोड़कर अन्य मुद्राएँ सीमित मुद्राएँ हैं जो केवल एक रुपये के मूल्य तक ही ग्राह्य हैं। पाई आदि बहुत कम मूल्य की मुद्राएँ एक आना तक ही ग्राह्य हैं। प्रायः सभी मुद्राओं का प्रचलन केन्द्रीय बैंक द्वारा होता है और उनकी ढलाई सरकारी प्रबन्ध में होती है। मुद्राओं के अतिरिक्त नोटों का प्रचलन है जिनके विषय में हम आगे चल कर दूसरे परिच्छेद में उल्लेख करेंगे।

द्रव्य की वर्तमान स्थिति के विषय में लोगों की धारणा है कि रुपया सोने के साथ परिवर्तनीय न होने के कारण द्रव्य पद्धति के प्रति सर्वसाधारण का विश्वास जितना होना चाहिए उतना नहीं है। यही कारण है कि लोग धन संचय सोने के रूप में करते हैं न कि द्रव्य के रूप में। रुपये का स्टर्लिंग के साथ बँधा होना भी लोगों को खटकता है। यह ठीक है कि स्टर्लिंग की सहायता से हमें अपना विदेशी व्यापार किसी भी देश से त

करने में बड़ी सुविधा होती है लेकिन यह भी सत्य है कि इससे देश की द्रव्य सम्बन्धी आर्थिक पराधीनता प्रकट होती है क्योंकि इस प्रकार का द्रव्यमान प्राय: परतन्त्र देश ही प्रयोग करते हैं। अत: एक स्वतंत्र देश के नाते यह उचित है कि यहाँ का द्रव्य मान भी स्वाधीन हो। साथ ही रुपया स्टर्लिंग के साथ बँधा होने के कारण उसके मूल्य में यदि परिवर्तन होता है तो उससे इङ्गलैंड की आर्थिक दशा का परिचय मिलता है नकि भारत की दशा का। लोगों का एक विरोध यह भी है कि यद्यपि स्टर्लिंग का मूल्य गिर गया है परन्तु रुपये और स्टर्लिंग का सम्बन्ध उसी दर पर अब भी बना है। प्रस्तुत द्रव्य व्यवस्था का एक अन्य दोष यह समझा जाता है कि यह पद्धति स्वत: चलने वाली नहीं है बल्कि उसे चालू रखने के लिए विशेष रूप से सरकारी प्रबन्ध किया जाता है जो व्ययशील और अस्वाभाविक प्रतीत होता है। यही कारण है कि यदि कभी कोई आशा के प्रतिकूल घटना होती है तो लोगों में शीघ्र ही अविश्वास की भावना पैदा हो जाती है।





भारतीय द्रव्य व्यवस्था

२

बैंक द्वारा नोट प्रचलन

सरकार द्वारा नोट प्रचलन

सन् १९१४ तक नोट व्यवस्था

युद्धकाल और उसके बाद

रिजर्व बैंक द्वारा नोट प्रचलन



परिच्छेद अठारह



भारतीय द्रव्य व्यवस्था— २

पिछले परिच्छेद में हमने भारतीय मुद्रा और विनिमय के सम्बन्ध में विशेष रूप से अध्ययन किया था अतएव यहाँ कागजी द्रव्य या नोटों के विषय में उल्लेख किया जायगा।

बैंक द्वारा नोट प्रचलन

सन् १८६० तक नोटों का प्रचलन बैंकों द्वारा होता था। इन बैंकों का नोट प्रचलन में मुख्य उद्देश्य लाभ था। सन् १८०६ में बंगाल बैंक की स्थापना हुई और उसके बाद सन् १८४० और १८४३ में क्रमशः बम्बई और मद्रास बैंकों की स्थापना की गई। यद्यपि कुछ अन्य बैंक भी नोट प्रचलन का कार्य कर रहे थे परन्तु नोट प्रचलन का अधिकार केवल इन्हीं बैंकों को विशेष रूप से दिया गया था। इन बैंकों में सरकारी पूँजी लगी थी और उसी के परिणाम स्वरूप उनके प्रबन्ध में सरकार का

यथेष्ट हाथ था। इन तीनो बैंकों को मिल कर उन्हें कुल ५ करोड़ रुपये के ही नोट प्रचलित करने का अधिकार था। नोटों की सुरक्षा के लिये यद्यपि पहिले लगभग एक तिहाई धातु रूप में कोष रखने का प्रतिबन्ध था परन्तु बाद में यह सीमा केवल चौथाई कर दी गयी थी, अन्य बैंकों पर ये नियम लागू नहीं थे। वास्तव में यदि देखा जाय इन नोटों का उपयोग बहुत कम होता था। इसके मुख्य कारण ये थे : प्रथम, नोट कानूनी रूप से ग्राह्य नहीं थे। द्वितीय, नोटों को मुद्रा के साथ आजकल की भाँति (यातायात की अड़चनों के कारण) दूर के स्थानों में परिवर्तन की सुविधा नहीं थी। तृतीय, सब बैंकों के नोटों में सादृश्य न होने के कारण साधारण जनता को असुविधा और कभी कभी धोखा भी उठाना पड़ता था। चतुर्थ, नोटों के प्रचलन का क्षेत्र सीमित था अर्थात् एक प्रेसीडेन्सी के नोट उसी प्रेसीडेन्सी में चलते थे और पंचम, नोट का प्रचार सरकार द्वारा न होने के कारण उनका कोई विशेष महत्व भी नहीं था। लोग मुद्राओं का अधिक प्रयोग करते थे और नोटों के प्रति उनका चाव कम था।

सरकार द्वारा नोट प्रचलन

यद्यपि यह आशा थी कि नोटों का प्रचार धीरे धीरे बढ़ेगा लेकिन फिर भी सम्भवतः स्वयं कुछ लाभ उठाने की दृष्टि से सरकार ने सन् १८६१ ई० में नोट प्रचार सम्बन्धी एक कानून

छिन गया और यह अधिकार केवल सरकार को मिला। सरकार द्वारा प्रचलित किए गए नोट असीमित और कानूनी रूप से ग्राह्य थे। नए विधान के अनुसार देश को पहिले मद्रास बम्बई और बंगाल (कलकत्ता) इन्हीं तीन क्षेत्रों में बाँटा गया और एक क्षेत्र के नोट दूसरे क्षेत्र में परिवर्तनीय नहीं थे। अतः नोटों के प्रयोग का क्षेत्र सीमित था जिससे उनके अधिक प्रचार में बाधा पड़ती थी। बाद में कानपुर, लाहौर, कराँची और रंगून में नए केन्द्र खोलकर यह असुविधा दूर कर दी गई थी। प्रथम बार में सबसे कम मूल्य वाला नोट १० रु० का था। इसके अतिरिक्त २०, ५०, १००, ५००, १,००० और १०,००० रु० के नोट भी चलाए गए। बाद में २० रु० के नोटों का अधिक प्रयोग नहीं था इसलिए वे सन् १६२० के बाद बन्द कर दिए गए। कम मूल्य वाले नोटों की आवश्यकता समझ कर सन् १८६० में ५ रु० वाले भी नोट चालू किए गए जिससे नोटों का प्रचलन और अधिक बढ़ गया क्योंकि उससे छोटे भुगतान करने में बड़ी सुविधा हो गयी। जैसा ऊपर बताया गया है प्रारम्भ में नोट सार्वलौकिक नहीं थे इससे उनके विस्तार और प्रचार में बड़ी अड़चन थी। इस बाधा को दूर करने के लिए सन् १६०३ में ५ रु० वाले नोट सार्वलौकिक (ब्रह्मा को छोड़कर) कर दिए गए। सन् १६०६ में यह सुविधा ब्रह्मा में भी दे दी गई। सन् १६१० में १० रु० और ५० रु० वाले नोट भी सार्वलौकिक बना दिए गए। सन् १६११ में इन्हीं

प्रकार की सुविधा १०० रु० वाले नोटों को भी दे दी गई। यद्यपि सरकार द्वारा नोट किसी भी सीमा तक चालू किए जा सकते थे परन्तु यह प्रतिबंध था कि उनके लिए एक कागजी द्रव्य कोष रखना पड़ेगा। प्रारम्भ में यह नियम रक्खा गया कि जितने मूल्य के नोट चालू किए जाँय उसमें से ४ करोड़ को छोड़कर (जो भारत सरकार के ऋण पत्रों के रूप में होगा), शेष के लिए धातुओं या मुद्रा के रूप में कोष सुरक्षित रक्खा जाय। इस सम्बन्ध में हम यह कह सकते हैं कि यद्यपि नोटों को इस प्रकार अधिक से अधिक सुरक्षित रखने का प्रयत्न किया गया लेकिन इससे उनके विस्तार पर कठिन रोक लगती थी। इसलिए यह ४ करोड़ की सीमा समय के साथ बढ़ती गई और अंत में प्रथम महासमर के प्रारम्भ होने तक १४ करोड़ तक पहुँच गयी थी। इसके साथ एक और सुविधा दी गई। अभी तक ऋण पत्र केवल भारत सरकार के होते थे परन्तु बाद में स्टर्लिङ्ग में भी रखने की अनुमति मिल गई थी। सन् १८९८ के बाद भारत सचिव के पास जमा किए गए सोने के आधार पर भी नोटों का प्रचलन हो सकता था। इस सम्बन्ध में हमें स्मरण होगा कि १९०५ के बाद जो सुधार किये गये उनके अनुसार कागजी द्रव्य कोष का धात्विक अंश लंदन और भारत में कहीं भी रक्खा जा सकता था और उसी के बल पर भारत सचिव और भारत सरकार के बीच हुण्डियों का

प्रयोग किया जाता था। इसके अतिरिक्त उससे मुद्रा निर्माण के हेतु चाँदी भी मोल ली जा सकती थी।

सन् १९१४ तक नोट व्यवस्था

इस प्रकार कागजी द्रव्य व्यवस्था जो प्रथम विश्व युद्ध के समय तक रही उसके प्रधान लक्षण संक्षेप में ये हैं:—

(१) नोट अधिक से अधिक सुरक्षित थे परन्तु नोट प्रचलन की प्रथा में लचनशीलता की कमी थी।

(२) कागजी द्रव्य कोष का प्रयोग विनिमय दर बनाए रखने के लिए तथा अन्य कामों के लिए भी होता था।

(३) कोष का कुछ अंश भारत में और कुछ अंश लंदन में रक्खा जाता था।

(४) वह सीमा जहाँ तक कोष पूँजी रूप में प्रयोग किया जा सकता था धारा सभा की अनुमति से निश्चित होती थी और उसी की अनुमति से बदली जा सकती थी।

इस प्रकार की व्यवस्था में निम्नलिखित दोष थे:—

(१) धात्विक कोष की मात्रा बहुत अधिक थी।

(२) पद्धति में लचनशीलता की कमी थी।

(३) कागजी द्रव्य कोष का अन्यत्र प्रयोग करना उचित नहीं था, उसका प्रयोग नोटों की परिवर्तनशीलता बनाए रखने के लिए ही होना चाहिए था।

(४) केन्द्रीय बैंक की अनुपस्थिति में नोटों का प्रबन्ध सरकारी खजाने से होता था जिससे कार्य में विलम्ब होता था और प्रायः देश में द्रव्य की कमी भी पड़ जाती थी। बिलों और चेकों का प्रयोग अधिक न होने के कारण यह कठिनाई कभी कभी और भी अधिक बढ़ जाती थी।

हम पीछे बता चुके हैं कि सन् १९१३ में चेम्बरलेन समिति की नियुक्ति इसलिए की गई थी कि वह इन सब बातों पर विचार करें और सुधार करने के लिए अपनी सम्मति दें। समिति की राय का उल्लेख हम पहिले कर चुके हैं अतः यहाँ उसका दोहराना उचित न होगा। दूसरे सन् १९१४ में युद्ध छिड़ जाने के कारण उन सम्मतियों पर विशेष कार्यवाही भी नहीं हो सकी।

युद्ध-काल और उसके बाद

सन् १९१४ में युद्ध प्रारम्भ होते ही लोग नोट भुनाने के लिए दौड़ने लगे परन्तु शीघ्र ही लोगों का विश्वास पुनः स्थिर हो गया और उनकी नोटों के बदले मुद्रा पाने की माँग कम हो गई। युद्ध के कारण द्रव्य की माँग बढ़ रही थी अतः उसे पूरा करने के लिए नोटों का प्रचलन और अधिक बढ़ाने के उद्देश्य से १ रु० और २ १/२ के नोटों का प्रचलन किया गया। प्रारम्भ में लोग इन नोटों के पक्ष में नहीं थे अतः कुछ स्थानों में नोट बट्टे पर भी चले। लेकिन द्रव्य की माँग अधिक होने के कारण

अन्त में सभी नोटों का प्रचार उत्तरोत्तर बढ़ता गया। नोटों के परिवर्तन पर कुछ प्रतिबंध लगा दिया गया था जिससे उनके बदले मुद्रा प्राप्त करना सरल नहीं था। पूँजी रूप में कोष रखने वाली सीमा जो अभी तक १४ करोड़ थी बढ़ाकर सन् १६१६ में १२० करोड़ कर दी गई और कोष का धात्विक अंश घटकर लगभग आधा रह गया।

युद्ध समाप्त होने पर सन् १६१६ में बैबिङ्गटन स्मिथ समिति ने द्रव्य व्यवस्था की जाँच की और जैसा हम पहिले लिख चुके हैं कई सुधार करने की राय दी। समिति की राय के अनुसार नोट पद्धति में लचनशीलता की शीघ्र आवश्यकता थी। सन् १६२० में कागजी द्रव्य सम्बन्धी नया कानून बनाया गया जिसके अनुसार कोष का धात्विक अंश ५० प्रतिशत रक्खा गया। स्मरण रहे कि स्मिथ समिति ने केवल ४० प्रतिशत की राय दी थी, इस सीमा में वृद्धि इसलिए कर दी गई कि जिससे नोट परिवर्तन करने में किसी प्रकार की अड़चन न पड़े। लन्दन स्थित भारत सचिव के पास ५ करोड़ रु० से अधिक मूल्य का सोना नहीं रह सकता था। इस सम्बन्ध में यह भी निश्चय किया गया कि २० करोड़ रु० के ऋण पत्रों को छोड़कर जो भारत में रहें शेष सब इंगलैंड में रक्खे जाँय। सन् १६२१ में इम्पीरियल बैंक की स्थापना की गई और उसे अधिकार दिया गया जिससे वह तत्काल आवश्यकता पड़ने पर देशी बिलों के बल पर थोड़े समय के लिए द्रव्य का प्रचलन कर सके।

ढाई और एक रुपया वाले नोट अधिक न चल सकने के कारण सन् १६२६ में हटा लिए गये।

रिज़र्व बैंक द्वारा नोट प्रचलन

जैसा पहिले लिखा जा चुका है सन् १६२६ की हिल्टन यंग समिति ने यह राय दी थी कि एक केन्द्रीय बैंक की स्थापना की जाय और उसी के द्वारा नोटों का प्रचलन हो। समिति की यह भी राय थी कि नोटों को सुरक्षित रखने के लिए अनुपातिक कोष प्रणाली का प्रयोग हो और कोष ४० प्रतिशत होना चाहिये। समिति की अन्य सम्मतियों का उल्लेख पहिले किया जा चुका है। उनमें से कई सम्मतियाँ मान ली गयी थीं परन्तु फिर भी केन्द्रीय बैंक की स्थापना शीघ्र न हो सकी। बहुत प्रयत्न के बाद सन् १६३५ में यह कार्य भी सफल हो गया। रिजर्व बैंक की स्थापना होते ही नोट प्रचलन का सारा कार्य इसी बैंक को सौंप दिया गया। रिजर्व बैंक के नोटों का मूल्य वही रक्खा गया जो अभी तक प्रचलित नोटों का था अर्थात ५, १०, ५०, १००, ५००. १,००० और १०,००० रु०। बैंक ने अपने नोट सर्व प्रथम सन् १६३८ में चालू किए थे। वे नोट पूर्ण रूप से सार्वलौकिक तथा असीमित रूप से सर्वग्राह्य हैं। नोट प्रचलन का सारा कार्य बैंक के नोट प्रचलन विभाग से होता है। बैंक का यह विभाग दूसरे विभाग (बैंकिंग) से बिलकुल पृथक है। इस विभाग का दायित्व बैंक द्वारा चलाए गए और इसके पूर्व सरकार द्वारा प्रचलित किए गए नोटों

मूल्य के बराबर है। इस दायित्व को पूरा करने के लिए इस विभाग के पास सम्पत्ति रूप में सोना, सुवर्ण मुद्राएँ, अंग्रेजी ऋण पत्र, रुपया तथा भारतीय ऋण पत्र रह सकते हैं। इन सब का मूल्य दायित्व से कम नहीं होना चाहिए। कुल सम्पत्ति का कम से कम २/५ भाग सोना और स्टर्लिंग ऋणपत्रों के रूप में तथा शेष रुपये और भारत सरकार के ऋण पत्रों में होना चाहिए। पिछले महायुद्ध के समय द्रव्य की माँग बढ़ने पर २ रु० और १ रु० के नोट चालू कर दिए गए जो अब भी प्रचलित हैं।

रिजर्व बैंक के हाथ में नोटों का प्रबन्ध आ जाने से बड़ी सुविधा हो गई है। बैंक का नोटों पर पूर्ण अधिकार है जिससे वह आवश्यकतानुसार नोटों की मात्रा में कमी या वृद्धि कर सकता है। नोट प्रचलन में लचनशीलता भी आ गई है।



परिशिष्ट—अ

सामयिक समस्याएं

१—पौण्ड पावना

सामयिक प्रश्न में पौंड पावने का प्रश्न एक बहुत ही महत्वपूर्ण विषय है। देश में आज कल प्रायः सभी आर्थिक क्षेत्रों में इस विषय की चर्चा सुनाई पड़ती है। अतः प्रस्तुत प्रसंग में उसका उल्लेख कर देना अनुपयुक्त न होगा। द्वितीय विश्व युद्ध के समय भारत ने मित्र राष्ट्रों मुख्यकर इंगलैंड को असीमित मात्रा में युद्ध सामग्री दी। यह कहने में कोई अत्युक्ति न होगी कि यदि भारत इतनी बड़ी मात्रा में युद्ध सम्बन्धी वस्तुएं न देता तो सम्भव है मित्र राष्ट्रों को युद्ध में अत्यन्त विषम परिस्थिति का सामना करना पड़ जाता क्योंकि स्वयं उनके साधन इतने पर्याप्त न थे जिससे युद्ध संचालन सफलता पूर्वक अधिक काल तक हो सकता। इस देश के भी साधन बहुत अधिक नहीं थे; किंतु पराधीन होने के कारण यहाँ के देश वासियों को अपनी आवश्यकताएँ न्यूनतम सीमा तक घटाकर रखनी पड़ीं। उनका जीवन स्तर युद्ध काल में गिर गया; खाने पहिनने

को पर्याप्त वस्तुएँ न मिल सकीं। लेकिन फिर भी कम मूल्य (अधिकतर सरकार द्वारा निश्चित किये गये दामों) पर इंगलैंड आदि मित्र राष्ट्रों को प्रायः सभी वस्तुएँ आवश्यकतानुसार भेजी गईं। युद्ध काल में यह हिसाब तुरन्त चुकता नहीं किया गया बल्कि भारत के नाम इंगलैंड में जमा रक्खा गया कि युद्ध समाप्त होने पर उसका भुगतान कर दिया जायगा। यह हिसाब युद्ध काल में निरन्तर बढ़ता गया और इस समय यह निधि करोड़ों रुपए की है जो भारत को इंगलैंड से मिलनी है। इतना अधिक मूल्य चुकता करना कोई सरल काम नहीं है। इंगलैंड के सामने वास्तव में बड़ी विकट समस्या उपस्थित है क्योंकि इस ऋण को चुकाने के अतिरिक्त स्वयं अपने देश में युद्धोपरान्त पुनर्संगठन के लिए द्रव्य की आवश्यकता होगी। अतः इस हिसाब का भुगतान किस प्रकार किया जाय इस प्रश्न पर कई बार भारत और इंगलैंड के बीच विचार विनिमय हो चुका है और इस समय भी कुछ वार्ता चल रही है परन्तु अभी तक कोई निर्णय नहीं हो सका है। भारत का हित न चाहने वाले कुछ वर्गों ने धृष्टतापूर्वक यह राय दी है कि युद्ध के समय भारत ने बढ़े हुए मूल्य पर वस्तुएँ दी थीं अतः कुछ अंश में उसका यह धन कम कर दिया जाय और शेष का भुगतान धीरे धीरे किया जाय। कुछ लोगों की राय है कि अंग्रेजों की जो सम्पत्ति और पूँजी भारत में लगी है वह भारत

मोल लेकर अपना रुपया वसूल कर ले। अन्य विचार धारा यह है कि भारत इंगलैंड से पूँजी के रूप में और उत्पादन के लिए आवश्यक मशीनों आदि का आयात कर अपना धन धीरे धीरे प्राप्त कर ले। कुछ अन्य लोगों का कहना है कि आंशिक रूप में स्टर्लिंग का परिवर्तन अन्य देशों के द्रव्य में भी होना चाहिए; मुख्यकर अमेरिका के डालर में जिससे भारत अन्य देशों से अपनी आवश्यकतानुसार वस्तुएँ मोल ले सके।

वास्तव में हमारी इस निधि का स्वरूप क्या होना चाहिए इसके लिए हमें भारत का आर्थिक पुनर्संगठन सर्व प्रथम ध्यान में रखना होगा। युद्ध काल में और इस समय भी देश वासियों को जितना आर्थिक कष्ट उठाना पड़ा है वह अकथनीय है। देश को आर्थिक संकट से बचाने के लिये यह आवश्यक है कि यहाँ के उद्योग धन्धे और व्यापार उन्नति करें और इन व्यवसायों में लगे हुए लोगों को हर प्रकार का प्रोत्साहन दिया जाय। एक स्वतंत्र देश के नाते भारत को यह स्वतंत्रता होनी चाहिए कि वह जिस देश से चाहे अपनी आवश्यकतानुसार वस्तुएँ मोल ले सके। इसके लिए यह नितान्त आवश्यक है कि इस देश की स्टर्लिंग निधि अन्य देशों के द्रव्य में बिना किसी बाधा के परिवर्तनीय रक्खी जाय जिससे यह देश अपनी सुविधानुसार विभिन्न देशों से अपने उद्योग धन्धों की उन्नति के लिए आवश्यक मशीनें आदि मोल ले सके। साथ ही इस देश के हित के लिए यह भी

उचित है कि स्टर्लिंग निधि का भुगतान इस देश की आवश्यकतानुसार किया जाय । यथा सम्भव उन वस्तुओं का आयात जिनकानिर्माण देश में हो सकता है बन्द कर देना चाहिए । वे वस्तुयें चाहे इंगलैंड से आती हों अथवा किसी अन्य देश से विदेश से केवल वेही वस्तुएँ आनी चाहिये जो देश के उद्योग धन्धों को चलने में सहायक हों । विदेशियों का यह भ्रम बिलकुल निर्मूल है कि भारत को यदि इतनी अधिक स्टर्लिंग निधि मिल जायगी तो यहाँ की द्रव्य व्यवस्था में अस्थिरता उत्पन्न हो जायगी। भारत में इस समय सर्व प्रकार के निर्माण के लिये अधिक से अधिक द्रव्य की आवश्यकता है अतः स्टर्लिंगकी सम्पत्ति मिल जाने से देश का बड़ा हित होगा । अधिक विस्तार में न जाकर अंत में इतना कहना ही ठीक होगा कि स्टर्लिंग निधि का संचय भारत ने अनेक कष्ट उठाकर किया है; उसके भुगतान में किसी प्रकार की बाधा डालना न केवल न्याय की दृष्टि से बल्कि सामाजिक दृष्टि से सर्वथा अनुचित होगा ।

२—रुपए का मूल्य

रुपये का विनिमय मूल्य क्या होना चाहिए इस सम्बन्ध में हम पहिले उल्लेख कर चुके हैं कि भारतीय सम्मति के विरुद्ध सरकार ने १ रु० = १ शि० ६ पें० की ऊँची दर निर्धारित कर दी थी । दर अधिक होने से देश का निर्यात व्यापार घटता है और आयात बढ़ता है अतः ऊँची दर से भारत को हानि

पहुँची है। इसके अतिरिक्त जैसा पहले बताया जा चुका है विनिमय दर अधिक होने से देश के अन्दर मूल्यस्तर पर हानिकर प्रभाव पड़ता है और आर्थिक संगठन भी अस्त व्यस्त हो जाता है। रुपये का विनिमय मूल्य जब इतनी ऊँची सीमा पर निश्चय किया गया था तब से अब तक संसार में जो आर्थिक परिवर्तन हुए हैं और उनके कारण अन्य देशों ने अपने द्रव्य के मूल्य में जो परिवर्तन कर लिये हैं उनके आधार पर यह स्पष्ट है कि रुपये की विनिमय दर वास्तव में बहुत अधिक है और उसका कम करना सर्वथा उचित ही नहीं बल्कि देश के हित के लिए अत्यन्त आवश्यक है। रुपए का मूल्य कम करने के लिए लोगों ने कई बार अनुरोध किया परन्तु देश की सरकार उस समय विदेशी होने के कारण इस माँग का कुछ प्रभाव नहीं पड़ा। वर्तमान समय में इस बात की आवश्यकता है कि देश के उद्योग धन्धों को प्रोत्साहन मिले, निर्यात व्यापार बढ़ाया जाय और आयात व्यापार कम किया जाय। इसके लिए वांछनीय है कि देश के आर्थिक हित को ध्यान में रखकर रुपये का उचित मूल्य निश्चय किया जाय।

वास्तव में राजनैतिक स्वतंत्रता के बाद यह अनिवार्य नहीं है कि रुपये का मूल्य स्टर्लिंग में ही निश्चित रक्खा जाय। रुपए का स्टर्लिंग से सम्बन्ध-विच्छेद करने के बाद उसका मूल्य इस प्रकार से निश्चय करना चाहिए जिससे यदि उसमें कोई परिवर्तन हो तो देश की आर्थिक स्थिति का ठीक ठीक

पता चल सके। अभी तक रुपए का मूल्य चूँकि स्टर्लिंग द्वारा बताया जाता है इसलिये दर में परिवर्तन होने पर इस देश की नहीं बल्कि इंगलैंड की आर्थिक स्थिति का अनुमान लगता है। अतः इस समय अन्य देशों के द्रव्य का मूल्य ध्यान में रख कर रुपए का मूल्य पुनः निश्चित करने और उसका स्टर्लिंग से सम्बन्ध-विच्छेद करने, दोनो ही बातों की शीघ्र आवश्यकता है।

३—द्रव्य स्फीति

द्रव्य स्फीति का अर्थ बहुत पहिले बताया जा चुका है। यहाँ पर हमें केवल यह संकेत करना है कि इस समय देश में द्रव्य स्फीति की स्थिति वर्तमान है। यद्यपि युद्ध समाप्त हो गया है लेकिन फिर भी द्रव्य स्फीति में कमी और मूल्यस्तर में गिरावट के कोई लक्षण प्रतीत नहीं होते हैं। वास्तव में मूल्य वृद्धि के कारण लोगों को जिन कठिनाइयों का सामना युद्ध के समय करना पड़ा था वे अभी तक किसी प्रकार कम नहीं हुई हैं। इससे समाज का वह वर्ग जिसकी आय निश्चित है कठिन आर्थिक संकट में पड़ा हुआ है। स्फीति की अवस्था दूर करने के लिये अनेक उपाय प्रयोग में लाए गये हैं परन्तु स्थिति में कोई विशेष परिवर्तन नहीं हुआ है। वास्तव में आवश्यकता इस बात की है कि द्रव्य की प्रचलित मात्रा में एक ओर कमी की जाय और साथ ही दूसरी ओर वस्तुओं का उत्पादन बढ़ाया

जाय। द्रव्य की मात्रा कम करने के लिए अधिक द्रव्य का निर्माण और उसका प्रचलन बन्द कर देना चाहिये। सरकार को स्वयं अपने व्यय में कमी करनी चाहिए। सर्व साधारण के हाथ से द्रव्य खींचने की दृष्टि से लाभ कर तथा आमोद-प्रमोद सम्बन्धी कर लगने चाहिए। निर्माण के हेतु सर्वसाधारण से ऋण लेकर भी प्रचलन में द्रव्य की मात्रा कम की जा सकती है। द्रव्य स्फीति की दशा दूर करने के अन्य उपाय साख नियंत्रण और वस्तुओं के मूल्य पर रोक हैं। इसके अतिरिक्त विशेष स्थिति में लोगों के बैंक में जमा किए गए धन पर अल्प काल के लिए प्रतिबंध लगाकर भी वास्तविक रूप से प्रयोग में आने वाले द्रव्य की मात्रा में कमी की जा सकती है। वस्तुओं का उत्पादन बढ़ाने के लिये उत्पादन तथा वितरण सम्बन्धी समस्त सुविधाओं का उपलब्ध होना अत्यंत आवश्यक है। इसके साथ ही श्रमजीवियों की कार्यक्षमता भी बढ़नी चाहिये।

४—द्रव्यमान

स्वतंत्र देश में स्वतंत्र द्रव्यमान होना अत्यन्त आवश्यक है। स्टर्लिंग से सम्बन्ध तोड़ कर रुपए की स्थिति ऐसी होनी चाहिए जिससे उसका सम्बन्ध किसी भी राष्ट्र के द्रव्य के साथ स्थापित किया जा सके। विनिमय दर बनाए रखने का जो कृत्रिम उपाय व्यवहार में लाया जाता है वह हर प्रकार से उचित नहीं कहा जा सकता। देश की प्रमुख मुद्रा रुपए की वर्तमान स्थिति बड़ी

विचित्र है। वह प्रामाणिक तथा सांकेतिक दोनों प्रकार की मुद्रा है। नोट तथा अन्य द्रव्य सोने में परिवर्तनीय न होने से तथा कागजी द्रव्य कोष सम्पूर्ण मात्रा में भारत में न रहने के कारण देश के द्रव्यमान में सर्व साधारण का उतना विश्वास नहीं है जितना होना चाहिये। इन सब बातों में काफी सुधार की आवश्यकता है। इस सम्बन्ध में यह उचित होगा कि एक समिति नियुक्त की जाय जो इन सब बातों पर विचार करे और अपनी राय दे जिससे देश में ऐसा द्रव्यमान स्थापित किया जा सके जिसके प्रयोग से देश में आर्थिक व्यापारिक और औद्योगिक समृद्धि हो सके।

परिशिष्ट—इ

द्रव्य सम्बन्धी अंतर्राष्ट्रीय योजनायें

जिस समय द्वितीय विश्वयुद्ध चल रहा था संसार के प्रमुख राष्ट्रों का ध्यान इस ओर आकृष्ट हुआ कि जब तक समस्त संसार के विभिन्न देशों की द्रव्य सम्बन्धी समस्याओं को सुलझाने का कोई अन्तर्राष्ट्रीय क्रियात्मक ढंग न निकाला जायगा तब तक वास्तविक शान्ति स्थापित न हो सकेगी। यह उपाय ऐसा होना चाहिए जिसके द्वारा विभिन्न देशों के बीच पारस्परिक सम्बन्ध अथवा अन्तर्राष्ट्रीय द्रव्य सम्बन्धी सहयोग स्थापित किया जा सके। कनाडा तथा अमेरिका ने इस सम्बन्ध में अपनी अपनी योजनाएँ भी तैयार की थीं। अन्त में इस विषय पर विचार करने के लिए सन् १९४४ में ब्रेटेनवुड्स में एक सम्मेलन किया गया और वहाँ पर जो निश्चय किया गया उसके परिणाम स्वरूप दो संस्थाओं का जन्म हुआ जो "अन्तर्राष्ट्रीय बैंक" और "अंतर्राष्ट्रीय द्रव्य कोष" के नाम से प्रसिद्ध हैं।

अंतर्राष्ट्रीय बैंक

अंतर्राष्ट्रीय बैंक की स्थापना जून सन् १९४६ में की गयी थी और उसके उद्देश्य ये हैं :

(१) अपने सदस्य देशों के निर्माण और उत्थान में उत्पादन के हेतु पूँजी की सुविधा द्वारा सहयोग देना।

(२) विदेशों में सर्वसाधारण को पूँजी लगाने के लिए उत्साहित करना।

(३) यदि सर्वसाधारण से पूँजी न मिल सके तो स्वय अपनी पूँजी से उत्पादन के लिए धन देना।

(४) अपने सदस्य देशों में व्यापारिक स्थिति और पूँजी का ध्यान रखते हुए अपना कार्य सम्पादन करना।

(५) युद्ध कालीन स्थिति से शान्तिपूर्ण स्थिति में आने के लिए विश्व की सहायता करना।

बैंक की पूँजी डालर में रक्खी गई है और उसमें सब देशों का भाग अलग अलग निश्चित कर दिया गया है। अमेरिका का हिस्सा सबसे अधिक है। संसार के प्रायः सभी प्रमुख देश इस बैंक के सदस्य बन चुके हैं और अब तक फ्रांस, नीदरलैंड डेनमार्क आदि देशों को ऋण रूप में सहायता भी मिल चुकी है। भारत भी इस बैंक का सदस्य है। अभी हाल की बात है कि भारत ने बैंक से ऋण लेने के लिए आवेदन पत्र दिया था और इस सम्बन्ध में आवश्यक जाँच करने के लिए बैंक द्वारा नियुक्त किए गए कुछ विशेषज्ञ इस देश में आए थे।

अंतर्राष्ट्रीय द्रव्य कोष

अंतर्राष्ट्रीय बैंक की भाँति दूसरी संस्था द्रव्य कोष है।

इसकी कार्यवाही सन् १९४७ में प्रारम्भ हुई थी। इसके मु
उद्देश्य ये हैं।

(१) विदेशी विनिमय में स्थिरता स्थापित करना।

(२) विनिमय नियंत्रण के उन प्रतिबंधों को मिटा
जिनके कारण विश्व व्यापार में वाधा पड़ती हो।

(३) सदस्य देशों के बीच विनिमय सम्बन्धी उचि
व्यवस्था बनाए रखना और उनके बीच पारस्परि
विनिमय ह्रास के कारण उत्पन्न प्रतियोगिता को द
करना।

(४) विभिन्न देशों की पारस्परिक लेनी देनी में सहाय
होना।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि कोष का उद्देश्य बैंक के उद्देश्
से बिलकुल भिन्न है। परन्तु दोनों के प्रबन्ध आदि में बहु
कुछ सादृश्य है। कोष में प्रत्येक देश का भाग निश्चित क
दिया गया है। एक वर्ष की अवधि में प्रत्येक सदस्य-देश अप
भाग के २५ प्रतिशत से 'अधिक धन नहीं प्राप्त कर सकता
भारत का भाग ४०,००,००,००० डालर है। इस कोष में से
रुपयों के बदले भारत कई बार डालर का सौदा कर चुका है।
साधारणतया कोई भी देश निर्धारित किए गए नियमों के
अनुसार किसी भी देश का द्रव्य पा सकता है जैसा ऊपर
लिखे उद्देश्यों से स्पष्ट है इस कोष का प्रमुख उद्देश्य विनिमय
दर में स्थिरता बनाए रखना है। इस उद्देश्य से यह नियम

रक्खा गया है कि प्रत्येक सदस्य देश अपने द्रव्य का विनिमय मूल्य डालर या सोने में निश्चित कर कोष के प्रबन्धकों को सूचित करे। भारत में कुछ समय पहिले इस विषय में ज्ञान रखने वाले लोगों का मत जानने का प्रयत्न किया गया था। प्रत्येक देश को यह अधिकार है कि वह अपने यहाँ के द्रव्य के मूल्य में कोष के प्रबन्धकों की अनुमति लेकर १० प्रतिशत तक परिवर्तन कर ले।

इन संस्थाओं की सफलता वास्तव में बड़े बड़े राष्ट्रों के पारस्परिक सहयोग और उनकी सद्भावना पर निर्भर है। साथ ही यह आवश्यक है कि उनमें छोटे राष्ट्रों को उन्नति की ओर अग्रसर करने की भावना भी होनी चाहिए। यदि ऐसा न हुआ तो पारस्परिक वैमनस्य और कूटनीति के कारण ये संस्थाएँ किसी भी समय अपने उद्देश्यों से गिरकर असफल हो सकती हैं।



परिशिष्ट-उ

संसार के प्रमुख राष्ट्रों में प्रयुक्त होने वाले मुद्राओं के नाम

आस्ट्रेलिया	....	पाउण्ड
अर्जेण्टाइना	....	पेसा
इटली	....	लीरा
बेल्जियम	...	बेल्गा
फ्रांस	....	फ्रैंक
जर्मनी	....	रीशमार्क
हालैंड	...	गिल्डर
नार्वे	....	क्रोन
पोलैंड	...	ज़्लोटी
पुर्तगाल	....	एस्क्यूडो
रूस	....	रूबल
स्पेन	....	पेसिटा
इंगलैंड	....	पाउण्ड
संयुक्तराष्ट्र अमेरिका	....	डालर
ब्राजील	....	मिलरीज़

चीन	....	टील
मिश्र	....	पाउण्ड
जापान	....	येन
भारत	....	रुपया